वीथिका

[कहानियाँ]

लेखक

श्रीगोपाल नेवटिया

प्रकाशक

हिन्दी-मन्दिर

प्रयाग

प्रकाशक
हिन्दी-मन्दिर
प्रयाग

प्रथम संस्करण : होली १६६५
मूल्य ॥।)

मुद्रक
हिन्दी-मन्दिर प्रेस
इलाहाबाद

कोई समय था जब मैं लिखा करता था और उससे आनन्द सम्पादन किया करता था; वह तो अब एक बीती बात के समान है। फिर भी, आज मेरी कहानियों का यह संग्रह प्रकाशित हो रहा है— भाई आनन्दकुमार के प्रयास से। सात साल हो गए, मैंने कुछ नहीं लिखा। कुछ कहानियाँ—प्रकाशित-अप्रकाशित—पड़ी थीं; भाई आनन्दकुमार उन्हें बटोरकर इस रूप में प्रकाशित कर रहा है। इसका श्रेय उसी को है।

हिन्दी-साहित्य के सुविशाल नगर के कथा-साहित्य-भाग में प्रेमचन्द सरीखे कथाकार अपना राजपथ निर्माण कर गए हैं; अनेकों प्रतिभाशाली लेखक अपनी रचनाओं से इस भाग को प्रतिदिन सुन्दर बना रहे हैं; उन सबके बीच में मेरी 'वीथिका' के लिए स्थान खोजते मुझे बड़ा संकोच होता है; पर अपनी चीज़ को सजाकर दूसरों के सामने रखने की लालसा न जाने मनुष्य के लिए कितनी पुरानी है।

इस 'वीथिका' में सभी कुछ मेरा है भी तो नहीं; कुछ अनुवाद हैं और एक दो के कथानक भी शायद पराये हैं। 'शायद' इस लिए लिख रहा हूँ कि इन कहानियों को लिखे इतना अरसा होगया कि कुछ निश्चित याद नहीं। चाहे जैसा हो, आशा है, 'वीथिका' ऐसी साबित न होगी जिसमें कदम रखना भी नागवार हो।

मार्च, १९३९ —श्रीगोपाल नेवटिया

प्रिय मित्र.........,

इन कहानियों के लिए तुम्हारी चाह, संभव है, इसीलिए हो कि तुम मुझे चाहते हो। कुछ भी हो, तुम्हारी चाह की चीज तुम्हीं को समर्पण करना ठीक होगा और इस समर्पण का अनाम होना और भी ठीक। इसे तुम तो जान ही जाओगे, और लोगों के जानने की ज़रूरत ?

तुम्हारा,
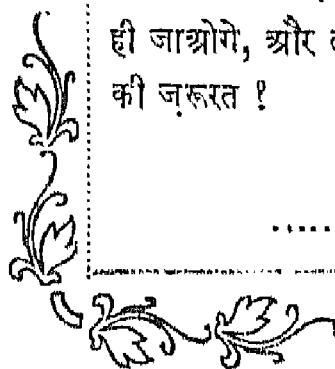
....

सूची

* अनुवादित

वीथिका

वीथिका

ज़रूरी काम

मैं अपने छोटे-से व्यवसाय में मशगूल रहता हूँ। उस काम में डटकर समय बिताने में मुझे हार्दिक सन्तोष होता है। टेबिल पर सामने कामकाज के काग़ज़ों का ढेर पड़ा हो तो लगकर उन कामों के करने में मज़ा-सा आता है। 'मेल-डे' सातवें दिन आता है। उस दिन पचासों चिट्ठियों के उत्तर लिखवाने पड़ते हैं। आफ़िस में जल्दी ही जाता हूँ और वहाँ से देर में लौट पाता हूँ। आज एक 'मेल-डे' की बात सुनाऊँगा।

उस दिन मैं एक नई एजेन्सी की शर्तों के मसविदे पर विचार कर उत्तर लिखवा रहा था। काम सोचने-विचारने का था और उत्तर दूसरे दिन के मेल से जाना ज़रूरी था। मैं उसी काम में फँसा था कि मुझे एक तार मिला। तार मेरे एक स्नेही मित्र का था। लिखा था—

"बहुत जरूरी काम। जल्दी आओ। स्टेशन पर कार तैयार"

लापरवाही से तार को एक ओर रखकर मैं अपने काम में लग गया। मेरा अपना ही काम इतना ज़रूरी था कि मित्र की ज़रूरत के ख़याल को दिमाग़ ने ग्रहण करना पसन्द नहीं किया।

दोपहर की डाक में उन्हीं मित्र का एक पत्र भी मिला। ऐसा मालूम देता था, कि जल्दी में दो पंक्तियाँ घसीट दी गई हैं। कोई बहुत ही जरूरी काम है और मुझे पहली ट्रेन से वहाँ पहुँच ही जाना चाहिये। पत्र में लिखा तो नहीं था, पर मैंने अनुमान कर लिया कि वे किसी चिन्ता में हैं और ऐसे समय वहाँ मेरी उपस्थिति आवश्यक समझते हैं। जरूरत के समय मित्र के काम आने की भलमन्सी दिखाने को जी ने ज़ोर तो बहुत लगाया, पर अपने स्वार्थ के आगे वह सद्भाव टिक नहीं सका। पत्र को मैंने फिर पढ़ा, मन में उमङ्ग उठी, अभी तीन बजे की ट्रेन से चल दूँ और मित्र की चिन्ता में हिस्सा बटाऊँ। पर उसी क्षण मुझे ध्यान आया अपने जरूरी काम का। पत्र की वही गति हुई जो तार की हो चुकी थी।

सन्ध्या को आफ़िस छोड़ने का समय हो जाने पर भी मैं अपने काम को पूरा नहीं कर पाया। अपने टाइपिस्ट को दूसरे दिन सबेरे आने का आदेश देकर मैं घर लौटा। बड़ा सुहावना समय था। दिन-भर की थकावट और गरमी के बाद वह सन्ध्या बड़ी प्रिय मालूम देती थी। उत्तर में बादलों की घटा घिरी आ रही थी, पश्चिम के रक्ताभ नभ में भी श्याम-घटायें फैल रही थीं। हवा के वे मधुर झोंके बड़े स्फूर्ति-प्रद मालूम दे रहे थे। अपने घर के बरामडे में एक आराम-कुर्सी पर पड़कर मैं सामने का दृश्य देखने लगा। सहसा नौकर ने आकर सूचना

दी कि उन्हीं मित्र का सिपाही चिट्ठी लेकर आया है। मैंने उसे बुलाकर चिट्ठी ली और खोलकर पढ़ी। उसमें जल्दी आने के लिये बड़ी ही तड़प भरी थी। किसी काम का उल्लेख बिलकुल नहीं था। मित्र का मकान सत्तर-अस्सी मील दूर है। स्टेशन से भी कुछ दूर पड़ता है।

दूसरे दिन सबेरे मैं वहाँ पहुँच गया। स्टेशन पर लेने के लिये मेरे मित्र स्वयं आये थे। मैं तो सोचता था, उतरते ही वे अपने जरूरी काम का जिक्र करेंगे ; पर उन्होंने ऐसी कोई बात नहीं छेड़ी। मैंने सोचा, घर पर चलकर एकान्त में बातें होंगी।

घर पर पहुँचकर उस जरूरी बात को सुनने की आतुरता के कारण मैं झटपट हाथ-मुँह धोकर तैयार हो गया। सोचता था, चाय पीते समय वह बात छिड़ेगी ही। चाय आ गई। बरसाती रात के बाद ही सुहावनी ठण्डक में मित्र के साथ दार्जिलिंग की वह चाय पीने में आनन्द भी खूब आया। पर जरूरी बात का वह कौतूहल शान्त नहीं हुआ। मित्र की प्रकृति से मैं परिचित था। मैंने ही बात चलाई—आपने उस जरूरी काम का जिक्र नहीं किया।

"काम सचमुच निहायत जरूरी है। देखिये, आज ही। आप को खास उसी के लिये तो बुलाया ही है—" मेरे मित्र ने उत्तर दिया; पर उनके चेहरे पर चिन्ता अथवा व्यग्रता के कोई चिन्ह नहीं थे।

मैं आगे न पूछ सका। मैंने समझा, कोई गम्भीर और जटिल प्रश्न है, फिर इत्मीनान से बैठकर बातें करेंगे। पर मुझे आश्चर्य होता था कि इतना जरूरी काम होने पर भी वे उसके बारे में इतने उदासीन क्यों हैं ? साथ ही उनकी उदासीनता को

मैंने रईस-स्वभावोचित मानकर सन्तोष कर लिया।

दोपहर में भोजन के समय फिर मुलाकात हुई। जीभ के लिये जितने विविध प्रकार के व्यञ्जन थे, उतने ही विविध विषय चर्चा करने के लिये भी थे। महात्मा गाँधी इतना काम करके भी थोड़ा-सा दूध, दो संतरे और खजूर खाकर रह जाते हैं; वायसराय अब हवाई जहाज़ से दौरा करने लगे हैं; वर्तमान राजनीतिक और आर्थिक परिस्थिति का क्या परिणाम होगा; फलाँ मुक़द्दमे में कैसी जिरह हुई; घर में बीबी का क्या हाल है—कोई विषय अछूता नहीं रहा; पर वह 'जरूरी बात' मित्र महोदय के मुँह की कैद के बाहर नहीं हुई।

खाना खाने के बाद बैठक में पाँच-सात 'जी हुज़ूर' हाज़िर हुये। उस समय मैं इस चिन्ता में था कि ऐसा कौन-सा जरूरी काम है जिसके लिये मैं यहाँ इस तरह बुला लिया गया हूँ। शीघ्र ही अपनी चिन्ता से ध्यान हटाकर मैंने सुना, मेरे मित्र महाशय हुक्म दे रहे थे—

"शाम को चार बजे दरिया में दोनों नावें मौजूद रहें। बड़ी नाव में टेबिल-कुर्सियाँ सजाई जायँ, वहीं चाय का इन्त-ज़ाम हो। पीछे की छोटी नाव में गवैये रहेंगे और वह नाव आगे की नाव से एक फ़र्लाङ्ग पीछे चलेगी।"

मैंने मन ही मन सोचा—'जरूरी काम की चिन्ता में भी आमोद-प्रमोद का इतना ध्यान!'

बिना परिचय दिये ही मेरे मित्र के बीच की बात इस प्रकार सुनाना शायद सुनने वालों को नागवार गुज़र रहा होगा। पर मेरे मित्र का ऐसा लम्बा-चौड़ा परिचय है ही नहीं। एक ही शब्द 'रईस' से उनका परिचय दिया जा सकता है।

हाथ में राज-शक्ति है। बड़े सरल स्वभाव और सदाचारी हैं। समय कटता है भ्रमण और आमोद-प्रमोद में। सरदी कलकत्ते, बम्बई, दिल्ली सरीखे बड़े शहरों में बिताते हैं, तो गरमी पहाड़ों पर। बरसात के उनके दिन बीतते हैं ग्रामीण-जीवन में—हरे भरे लहराते खेतों और उमगते हुये नदी-नालों के बीच। हम दोनों में क़ाफी घनिष्ठता है। उनका वश चले तो वे मुझे अपने से अलग होने ही न दें।

चार बज गये। मित्र महोदय के आदेश के अनुसार सारी तैयारियाँ हो गईं। मैंने मन में कहा, चलो सैर कर आयें ; उस जरूरी बात का जब वे ख़ुद जिक्र नहीं कर रहे हैं तब मुझे ही ऐसी कौन-सी उतावली पड़ी है। तो भी मुझे थोड़ा-थोड़ा क्रोध-सा आ रहा था। सोचता था—वहाँ के जरूरी काम को छोड़-कर व्यर्थ यहाँ के जरूरी काम के लिये अब मैं मित्र के साथ निकला हूँ नौका-विहार के लिए !

प्रबन्ध ठीक था। एक कुशल गायक सूरदास आया हुआ था। सारे साज के साथ एक छोटी नाव सजाई गई। बड़ी नाव का तो क्या कहना !—नीचे कालीन ; ऊपर गद्देदार कुर्सियाँ; हाथ बाँधे नौकर मौजूद ; मल्लाह भी काफ़ी संख्या में थे। अतीव नयनाभिराम दृश्य था।

पहली रात की बरसात से नदी-तट के वृक्ष स्नान करके अपने कमनीय कलेवर को लिये झूम रहे थे। एक मीठी मधुर सुगन्ध से लदा हुआ मन्द-मन्द मारुत बह रहा था। नदी उमगती चली जा रही थी। जगह-जगह जङ्गल में से आकर छोटे-बड़े नाले नदी में मिल रहे थे। ऊपर स्वच्छ निर्मल आकाश था। यह सारा दृश्य देखकर चित्त प्रसन्न हो गया। मैं

तो जरूरी काम के उस कौतूहल को भूल-सा गया ।

इस आनन्द का अधिक श्रेय तो पीछे की नाव के उस सूरदास को था, जो गा रहा था । छोटी नाव एक फ़र्लाङ्ग दूर थी । फिर भी उतनी दूर से गान की जो मधुर स्वर-लहरियाँ आ रही थीं, वे तो ऐसी थीं कि क्या लिखूँ ? मन मस्त हो रहा था । ऐसा मालूम होता था, आँख लेकर भगवान् ने सूरदास को कलकण्ठ प्रदान कर दिया है, और इस सौदे में सूरदास ही जीत में रहा है । एक तो वैसा सुन्दर स्थान और समय, दूसरे वह संगीत, कौन न मुग्ध हो जाता !

चाय पीने के बाद मैं तो आनन्द-विमोहित होकर अधखुले नेत्रों से, एक आराम-कुर्सी पर, अर्द्ध-चेतन अवस्था में पड़कर, गान पर अपने मित्र की दी हुई बारबार की दाद का साथ देने लगा ।

सूरदास भीमपलासी गा रहा था—

"सबसे ऊँची प्रेम सगाई"

वाद्य-यन्त्रों की ध्वनि के साथ जब यह ध्रुवपद सूरदास के कल-कंठ से निकलता, तब मेरे मित्र कह उठते—

वाह, क्या कमाल का गला पाया है !

मैं भी कहता—भगवान् की देन है ।

"सूर कूर इहि लायक नाहीं कहँ लगि करौं बड़ाई" के साथ गान समाप्त हुआ और हम दोनों "सबसे ऊँची प्रेम सगाई" के आनन्द में झूमते रह गये ।

सहसा नाव का प्रवाह रुक गया । कुछ मल्लाह किनारे पर उतरकर नाव में रस्सी बाँधने लगे । दाहिनी ओर से एक चौड़ा नाला आकर नदी में मिला था । वह पानी से उमड़ रहा था ।

नाव को उसी में जाना था। मल्लाह दोनों ओर रस्सियाँ बाँधकर किनारों पर से नाव को खींचने लगे। बड़ी मुश्किल से नाव आगे बढ़ रही थी। हम लोगों के घड़ी भर के आनन्द के लिये कितने आदमियों का एँड़ी-चोटी का पसीना एक हो रहा था।

नाले के प्रवाह से लड़ती हुई नाव आगे बढ़ी। बड़ा ही सुन्दर नाला था। जंगल के हृदय को भेदकर वह बह रहा था। लताओं से लिपटे हुये वृक्षों की शाखायें उस जल-स्रोत को स्थान-स्थान पर आच्छादित किये थीं। हवा के झोंकों से शाखायें झूम-झूमकर तट के जल का चुम्बन कर रही थीं। सचमुच बड़ा ही नयनाभिराम दृश्य था।

मेरे मित्र कह उठे—देखा! कैसा सुन्दर दृश्य है?

मैंने कहा—बहुत ही सुन्दर।

मित्र ने कहा—यही देखने के लिये तो मैंने आप को यहाँ बुलाया है।

अरे! वह नयनाभिराम दृश्य तो मुझे काँटे-सा चुभ उठा। मैं क्या उत्तर देता? मेरे मन में मेरे निजी जरूरी कामों का जिनको मैं छोड़कर आया था, बोझ अब सौ गुना भारी होगया था। मैं आँखों को अन्तरिक्ष में टाँगकर स्तम्भित होगया। मेरे मित्र ने समझा होगा कि सुन्दर दृश्य देखकर मैं आनन्द-विभोर होगया हूँ। पर मैं तो उस वक्त अपनी टेबुल पर फैले काग़ज़ों के झुंड में था।

मैंने मन ही मन कहा—'रईस की दोस्ती, जी का जञ्जाल' इसी को कहते हैं।

प्रोफ़ेसर साहब

बाबू साहब समय नहीं, समय का गला काटते हैं। उनके यहाँ गप-शप और ताश-तमाशे का बाज़ार सदा गरम रहता है। उनकी बैठक में दस पाँच की भीड़ सदा लगी रहती है। बाबू साहब ठहरे गाँव के रईस; कोई किसी मतलब से, कोई किसी मतलब उनकी बैठक की शोभा बढ़ाता रहता है। उन दिनों शहर में एक जादू का तमाशा दिखाने वाला आया हुआ था। गाने-बजानेवाला अथवा खेल-तमाशे दिखानेवाला आकर सबसे पहले बाबू साहब की हाज़िरी देता। कालेजों में पढ़ानेवाले ही प्रोफ़ेसर नहीं होते, संगीतज्ञ, शारीरिक और जादू के खेल दिखाने वाले भी प्रोफ़ेसर कहलाते हैं। शहर में आने के दूसरे दिन ही प्रो०......ने बाबू साहब की बैठक में हाज़िरी दी।

चूड़ीदार पायजामें पर हंटिंग कोट और उस पर बालों वाली तुर्की टोपी पहने प्रो०...ज्योंही बैठक में आकर बैठे, सबकी दृष्टि उनकी ओर आकर्षित हो गई। बाबू साहब तक उनका परिचय पहले ही पहुँच चुका था। वक्त ज़ाया करने के लिये एक अच्छा मसाला मिल गया। आरम्भ की दो-चार बातों ही से मालूम हो गया, कि प्रोफ़ेसर साहब हैं तो सभा-

चतुर। कोई उनकी ओर ध्यान न भी दे, तो वे अपनी ज़बान के ज़ोर पर उसके ध्यान को धर घसीटते हैं।

अपना परिचय देते हुये उन्होंने फरमाया—

'बाबू साहब, मैं ऐसा-वैसा नहीं, कारीगर आदमी हूँ। जादू के खेल तो इसलिये करता हूँ, कि इसके मिस देश-देशान्तर घूमकर देख लूँ। घर में पैसा वाला हूँ। एक बार मैंने जापान से ऐसा टट्टू मँगाया था, जिसके बदन पर एक सफेद घोड़े की हू-बहू आकृति बनी हुई थी। उस पर मैंने एक चीनी साईस रखा था। मेरे टट्टू को, लोग दो-दो हजार देने को तैयार थे; पर अपने मन की चीज़ मैं कैसे बेंचता ? मैं बहुत उम्दा घुड़सवारी जानता हूँ। फलाँ नवाब साहब की बदमाश घोड़ी को मैंने सीधी कर दिया था। एक दिन मैं अपने टट्टू को पानी पिलाने के लिये ले जा रहा था। बिना ज़ीन के ही मैं उस पर सवार था। किसी कारण टट्टू चमका, टिल्ला खाकर मैं पीछे की ओर जा गिरा। घर आते ही मैंने टट्टू को पानी के मोल बेंच डाला। किसी ज़माने में साइकिल का चस्का लगा था। बढ़िया-से बढ़िया एक दरजन साइकिलें मेरे पास थीं। एक दिन मैं मेले में बन-ठनकर साइकिल पर सवार होकर निकला। मेले की भीड़ में ज्यों ही पीछे की ओर मुड़कर मैंने देखा, सामने एक आदमी से टकराकर मैं चारों खाने चित्त जा गिरा। चुप-चाप घर लौटकर मैंने सब साइकिलें महल्ले के स्कूल जानेवाले लड़कों को बाँट दीं।'

प्रो०...साहब की दान-शीलता पर सभी मुग्ध हो गये। बात करने में वे अखबार छापने की 'रोटरी मशीन' थे। और बहुत-सी बातें बनाकर आपने बताया कि वे कपड़ा बहुत

बढ़िया सीते हैं। जूता तो उनका-सा देशी मोची सी ही नहीं सकते। अपने कपड़ों पर जब वे इस्तरी कर लेते हैं, मानों खास फ्रांन्स से धुलकर आए हैं। वे पेंटिंग का काम भी जानते हैं। और थोड़ी-थोड़ी शायरी भी करते है। कहानी तो वे ऐसी बढ़िया कहते हैं, कि एक-एक कहानी कहकर उन्होंने पाँच-पाँच सौ रुपये इनाम पाये हैं। प्रो०......साहब की ऐसी योग्यता जानकर सभी चकित थे। आखिर सभी की मन-चाही बात उन्होंने कही।

'और तो क्या, आप जैसे मेहरबान यहाँ मौजूद हैं। एक ताश का जोड़ा मँगवाइये। एक-दो खेल दिखला दूँ।'

ताश का जोड़ा आया, सभी सँभलकर बैठ गये। बाबू साहब ने ताश का एक पत्ता खींचा। बड़ी हिफाज़त से पत्ता छिपा लिया गया। पाँच-सात मिनट तक मिस्मरेज़म करने का नाटक करके प्रो०'''बोले—बाबू साहब—आप का पत्ता मैं क्या बताऊँगा, हथफेरी से मैंने तो शायद उसे देख लिया हो। आप का पत्ता तो बतायेगा मेरा नौकर जो डेरे पर है। किसी को दौड़ाइये, वह उससे जाकर सिर्फ इतना पूछ ले—सब ताशों में से एक ताश खींच लिया है, बताओ कौन-सा है?

एक जनाब दौड़ाये गये, झटपट लौटे और आते ही बोले—हुकुम का इक्का।

ताश खोलकर देखा गया, वही हुकुम का इक्का था। देखने वाले हैरत में आ गये।

प्रो०'''ने देखा कि ठीक सिक्का जम गया। ताश का एक खेल और दिखाकर उन्होंने अपनी बातों की गाड़ी आगे हाँकी—

'एक बार की बात है। मेरे गाँव के नवाब साहब के यहाँ जलसा था। अच्छे-अच्छे जादूगर बुलाये गये थे। बहुत वर्ष पहले की बात है। उन दिनों मेरी करामात की चर्चा भी फैल चुकी थी। नवाब साहब ने मुझे भी बुलाया; पर मैं दूसरे शहर में तमाशा दिखाने गया हुआ था। मेरी माँ से मेरी ग़ैरहाज़िरी की बात जानकर नवाब साहब तनिक निराश हुये। पर भाग्य में कुछ और ही था। भगवान को उस दिन यश जैसे मेरे हाथ देना था। दूसरे शहर में तमाशा करके मैं उसी शाम को लौटा। स्टेशन पर उतरकर देखता हूँ, बगल ही में नवाब की कोठी में बिजली की रोशनी हो रही है और बड़ी चहल-पहल मची हुई है। कौतूहल-वश मैं उसी ओर जा निकला। सड़क पर मुझे देखते ही नवाब साहब के मुसाहिब ने आगे बढ़कर मुस्कुराते हुये कहा—'वाह' प्रो०...आप भी खूब मौके से आ गये! हमें तो खबर मिली थी, कि आप शहर में नहीं हैं। ख़ैर साहब, मैं जलसे में पहुँचा। मुझे देखकर नवाब साहब भी खुश हुए। एक बड़ी टेबुल सजी हुई थी, उसी के सहारे नवाब साहब सामने बैठे थे। सभी नामी-नामी करामाती मौजूद थे। मोहम्मद छैला भी था। सब को देखकर तो मेरी नानी-सी मर गई; क्योंकि, बिना किसी तैयारी के चला आया था। कोई तमाशा दिखाऊँगा भी तो कैसे। भगवान का भरोसा करके वहीं बैठ गया। जलसे में सभी एक-एक दो-दो खेल दिखाने वाले थे। मुझे खेल दिखाने के लिये कहा गया, तो मैंने यह कहकर टाल दिया, कि सबके बाद आया हूँ, सबके बाद खेल दिखाऊँगा।

सभी मौजूद कारीगरों ने अपनी-अपनी करामातें दिखाईं।

मोहम्मद छैले ने एक तस्तरी में पाँच सेर सुर्ख गोश्त मँगवाया। सबके सामने मेज पर रखकर उसने उस तश्तरी को एक रुमाल से ढक दिया। दो तीन मिनट तक तश्तरी पर हाथ फिराने के बाद उसने ज्यों ही रूमाल उठाया, गोश्त गायब था और तश्तरी गुलाब के फूलों से भरी हुई थी। देखनेवालों के अचरज का क्या ठिकाना!—सचमुच मोहम्मद छैला गजब का करामाती था। उसकी करामात के जोश में मैं भी कह बैठा—नवाब साहब, आज तो मैं, आप जो हुक्म फरमावेंगे, वही चीज़ इस मेज़ पर मँगवा दूँगा। 'हूँ' कहकर नवाब साहब ने मेरी ओर नज़र उठाई। सभी मेरी ओर इस तरह देखने लगे, मानों मैं कैसी अनहोनी बात कह बैठा हूँ। मैं खुद भी घबड़ा गया, कि सचमुच मैं यह कैसी डींग हाँक गया।

उस दिन तमाशा करके, सैकड़ों रुपयों से जेब भरकर मैं सीधा घर आ रहा था। और तो क्या, रुपया मँगवावेंगे और मैं ढेर लगा दूँगा। मैं अपनी जेब की गरमी की आशा में था और उधर वे बड़े-बड़े करामाती मेरी ओर देखकर कटाक्ष कर रहे थे। कहते थे—देखना प्रो......चाहे सो चीज़ मँगवा देगा, जनाब अभी इस मेज़ पर!—सच कहता हूँ, मेरा पसीना छूटने लगा। मैंने मन ही मन सोचा, यह क्या आफत मोल ले ली। सोच-साचकर आखिर नवाब साहब बोले—अच्छा प्रोफेसर साहब, गरमा-गरम कढ़ी मँगवाइये। सुनते ही मेरे तो पैरों-तले धरती निकल गई। अब क्या हो, हे भगवान्! ऐसे वक्त मैंने धीरज नहीं छोड़ा। बाबू साहब, मैं हर वक्त अपने साथ अपना एक असिस्टेंट रखता हूँ। उस दिन भानु साथ था। बड़ा ही फुर्तीला और चुस्त है वह। मैंने ज्यों ही

उसकी ओर घूमकर देखा और वह सटक सीताराम।

अब चिन्ता हुई; कैसे थोड़ा वक्त निकालूँ। मैंने फरेब करने शुरू किये—यह बरतन मँगवाइये, वह बरतन मँगवाइये। सौ-सवा-सौ का एक शाल मँगवाइये और एक मोर की पाँख का पंखा। मैंने सोचा, ये चीजें सहज मिल जाने की नहीं। यहाँ शाल मिलेंगे कीमती। पंखा खोजते-खोजते भी थोड़ा समय लगेगा ही। कोई शाल कीमती और कोई हलका बताकर मैंने ना मंजूर कर दिया। आखिर दूकानदार का ११०) की चिप्पी लगा हुआ, एक शाल मिल गया। दूसरी चीजें भी जुट गईं। कोई उपाय नहीं रह गया। शाल को टेबुल पर फैलाकर मैं मंत्र जपने का नाटक करने लगा।

अब सुनिये भानू का हाल। ज्योंही मैंने उसकी ओर नज़र की थी, वह ताड़ गया कि इस समय उस्ताद को कढ़ी की जरूरत है। दौड़ा गया घर पर। नौ-दस बजे का वक्त था, वहाँ कढ़ी कहाँ मिलती? झटपट कढ़ी पकाने की तजवीज करने लगा, तो देखता है छाछ दही घर में कुछ नहीं। बड़ा निराश हुआ; पर वह था मेरा असिस्टेंट, हाथ-पर हाथ थोड़े ही धरकर रह जाता? दम भर में पहुँचा हलवाई की दूकान। हलवाई दूकान बढ़ाने जा रहा था। दही सारा बिक चुका था। हलवाई ने खाली कुण्डे दिखलाकर कहा—क्या करूँ भाई, दही कहाँ से दूँ। थोड़ा खट्टा दही सदा बच जाया करता है; पर आज न जाने कहाँ से तीन फकीर टपक पड़े। सारा खट्टा दही उनके मुँह मारा, तब पिंड छूटा। भानू ने अक्ल दौड़ाई—फकीर थे, अजनवी थे, कहाँ ठहरे होंगे? स्टेशन के पास धर्मशाले में। बिना एक पल गँवाये वह धर्मशाला की ओर लपका। एक

एक पल बेशकीमती था।

जादू-टोने का स्वाँग रचकर मैं उधर उसकी राह देख रहा था और सब मेरा उपहास कर रहे थे।

धर्मशाला में वे तीनों फकीर एक कोने में डेरा डाले पड़े थे। पकी-पकाई खिचड़ी आग पर फह-फह कर रही थी और पास ही उस खट्टे दही की कढ़ी उफान मार रही थी। कुछ दूरी पर तीनों फकीर चरस के दम मारने में मस्त थे। आपस में चर्चा कर रहे थे कि गहरा नशा जम जाने पर ख़ूब छककर कढ़ी-खिचड़ी पर हाथ साफ करेंगे। धर्मशाला में पहुँचकर यह नजारा देखते ही भानु की जान में जान आ गई। चुपके से फकीरों के पिछवाड़े होकर धरती पर लेटकर, उस अँधियारे में पेट के बल चलकर, वह कढ़ी की देगची के पास जा पहुँचा। कुरते के छोर से देगची उठाकर वह फौरन् वहाँ से खिसका।

मैं पहले ही से दरवाज़े के नजदीक टेबुल के छोर पर बैठा था। सब लोगों का ध्यान मेरे मंत्र और जाप की ओर लगा था। भानू ने ज्यों ही मेरे नज़दीक आकर गरमागरम देगची छुआई कि मैं शेर बन बैठा। मन्त्रों के जाप में जोश आ गया, पंखा जोर से चलाने लगा और बार-बार पानी के छींटे देने लगा। भानू ने धीरे से मेरे कान में खबर पहुँचा दी कि धर्मशाला में तीन फकीर आये थे, उन्हीं के यहाँ डाका डाला है। लोगों की नज़र बचाकर उस देगची को शाल के नीचे पहुँचा देना तो मेरे बायें हाथ का खेल था। एक दो बार शाल के कोने इधर-उधर करके, जोर से अगडम्-बगडम् मन्त्रोच्चार करके, मैंने शाल उठाया, तो उसके नीचे देगची से धूँआ

निकलता दिखाई दिया। देखनेवाले पैरों पर उठ खड़े हुये। बड़े-बड़े सभी करामाती हैरान थे। खुद नवाब साहब आगे बढ़कर आये। देगची की गरमागरम कढ़ी का चम्मच चखकर उन्होंने वाहवाही की धूम मचा दी। मेरी खुशी का तो क्या ठिकाना। एक-से एक अजीब खेल दिखानेवाले दाँतों तले अँगुली दबाकर रह गये।

नवाब साहब अब जिद करने लगे—प्रो०······बतलाइये, आपने वह कढ़ी कहाँ से मँगवाई ?

मैंने बात बनाकर कहा—नवाब साहब, यह न पूछिये। जिन-फरिश्तों की कार्रवाई में हम लोगों को दखल देने से मतलब ?

पर नवाब साहब थोड़े माननेवाले थे। आखिर मुझे कहना पड़ा—हुजूर ! धर्मशाले में तीन भूखे फकीर आये हुये हैं। बड़ी मुश्किल से उन्होंने भीख माँगकर कढ़ी पकाई। मैं उनकी कढ़ी न मँगवाता; पर जब आपका हुक्म हो गया, तो लाचार था। मेरा जिन कढ़ी की देगची लेकर वहाँ ज़मीन में घुसा और यहाँ शाल के नीचे आकर निकला।

बात की सचाई जाँचने के लिये धर्मशाला को आदमी दौड़ाये गये।

बाबू साहब, पहले कह चुका हूँ, उस दिन भगवान् को मेरे हाथ यश देना था। लोग धर्मशाला में पहुँचे तो क्या देखते हैं कि तीनों फकीर आपस में लड़ रहे हैं। उनमें से एक कह रहा था—चरस क्या मिली, भूख ही भूल गये। खा-पीकर चरस पीते तो क्या बिगड़ जाता ?

दूसरा कह रहा था—अरे, तो क्या अन्धे हो गये थे ?

देखते-देखते कढ़ी की देगची गायब हो गई। यहाँ कोई जिन रहता है। या फरिश्ते!—भूतों का मुल्क है, भूतों का।

जानेवाले उनकी बातें सुनकर दंग रह गये। नवाब साहब के हुक्म से तीनों फकीर वहीं बुलाये गये। सैकड़ों आदमियों के बीच में मेज पर रखी हुई उस देगची को देखकर फकीर लोग चिल्ला उठे—अरे, कढ़ी की देगची तो यह रही। हाँ यही तो, यहाँ कैसे आ गई? परिन्दा देखा दरिन्दा। धरती में निकलकर कोई जिन उठा लाया क्या?

बड़े बड़े करामातियों ने अपना कान पकड़ा। मैंने फकीरों के आगे हाथ जोड़कर कहा। इस नाचीज़ को मुआफ फरमावें, फकीर साहब; नवाब साहब के हुक्म से चंद मिनटों के लिये मैंने आपकी देगची मँगवा ली थी। कढ़ी की देगची उठाकर मैंने कहा—अभी इसे मैं खुद आप के यहाँ पहुँचा आता हूँ।

बाबू साहब, उस समय की मेरी इज्ज़त की क्या पूछते हैं? मैं मन ही मन भगवान का शुक्र मना रहा था।'

प्रो०...साहब का यह किस्सा सुनकर बाबू साहब की बैठक में उपस्थित लोग चकित हो गये। थोड़ी देर बाद उनके चले जाने पर चर्चा यह होने लगी—

'बड़ा दिलचस्प है यह किस्सा'—एक ने कहा।

'बहुत ही मज़ेदार'—दूसरे ने कहा।

'कहानी लिखने लायक।'—साहित्यिक अभिरुचिवाले एक तीसरे सज्जन बोले।

'कहीं गढ़ी हुई कहानी हुई तो?'—चौथे ने तर्क किया।

'इससे क्या हुआ' प्रो०...के दिमाग की यह उपज कम कीमती नहीं है।'—पाँचवें ने उत्तर दिया।

'प्रो०...इस कहानी को कहीं पढ़कर सुना रहे हों तो ?—छठे ने भाँपा।

सब चुपचाप एक दूसरे का मुँह देखने लगे।

रति बसंत

स्वर्ग में नन्दन-वन का अद्भुत दृश्य शोभायमान था। सर्वत्र बसंत का साम्राज्य स्थापित था। कली-कली में फूल-फूल में बसन्त ने नया अवतार धारण किया था। उस समय वह सोलहो शृङ्गार से सुसज्जित था। वायु-मंडल सौरभमय था। फूलों पर मधु-मक्षिकाएँ गुंजार कर रही थीं। तरु-तरु पर अनेक पक्षी बैठे सौन्दर्य की वृद्धि कर रहे थे।

देवेन्द्र ने पूरे वैभव से बसन्तोत्सव मनाने का निश्चय किया था। चैत्ररथ, वैभ्राजिक, सर्वतोभद्र और नन्दन—इन चार वनों में से नन्दन वन में ही इस उत्सव का समारम्भ निश्चित किया गया था। छोटे-बड़े सभी देवता उत्सव में आमंत्रित थे।

प्रातःकाल ही से नन्दन-वन में हलचल आरम्भ हो गई। सुन्दर-सुन्दर पुष्पों से सुसज्जित इस वन में अनेक देव-देवांग-नायें, कुमार और कुमारियाँ बन-ठनकर पधारने लगीं। देव कन्यायें छोटे बड़े झुण्डों में कोई गज-गति से और कोई हंस-गति से चलती हुई, मन को आकर्षित कर रही थीं। देव-बालायें स्वर्ण और रजत के प्यालों में सोमरस भर रही थीं। एक तरफ अमृत के प्याले भी भरे जा रहे थे। एक तरफ बालक-

बालिका खेल रहे थे। कोई शर-संधान करता, कोई पलक मारते ही ऊपर उड़ जाता, कोई अदृश्य हो जाता और कोई वायु में विचरण करता था।

इसी प्रकार सब अपनी-अपनी कला का प्रदर्शन कर रहे थे। प्रत्येक बालक बसन्तोत्सव के उपयुक्त वस्त्र धारण किये हुये था; पर तो भी दो वस्त्रों में कहीं कोई समानता नहीं पाई जाती थी। सब बालक स्वयं-सेवक थे। नियम और व्यवहार तो उनके निर्मल आचरण के आगे लज्जित हो जाते थे।

सब से पहले ऊषा-कुमारी पधारीं। अनुमान था कि सबसे पहले गजानन पधारेंगे; पर वह तो बहुत देर से आये। ऊषा-कुमारी के आगमन से वातावरण चैतन्यमय हो गया—मानों नवीन सृष्टि की रचना हो गई। नन्दन-वन की अवर्णनीय शोभा तो अनुपम ऊषा के कारण ही थी।

उसके पीछे आया अरुण—गम्भीर चाल से चलता हुआ; पर मद और मान से विहीन। ऊषा की हास्योर्मियाँ उसके वदन पर अब भी लहरें मार रही थीं।

धीरे-धीरे सारा सभा-मंडप भरने लगा। विद्याधर, यक्ष, किन्नर, गंधर्व सभी आये। कार्तिक स्वामी, मित्रावरुण, विश्वकर्मा, शम्बर, विरोचन और विभावसु—सब एक साथ आये। शनि और बृहस्पति एक रथ में पधारे। सूर्य और चन्द्र अश्विनीकुमारों के साथ आये। थोड़ी देर में सारा सभा-मंडप भर गया।

अप्सराओं का वृन्द सबसे पीछे आया। उनके आते ही देव वर्ग में थोड़ी अशान्ति-सी फैली। कोई मेनका को देखता, तो कोई उर्वशी की ओर दृष्टि फेंकता, और कोई मंजुघोषा को

ही देखकर कौतूहलाक्रान्त होता। तिलोत्तमा और रम्भा सब के पीछे चल रही थीं, तो भी बहुतों की आँखें उन तक पहुँच ही गईं। ऊषाकुमारी ने सब का यथा-योग्य स्वागत करके उन्हें यथोचित आसन दिये।

पाटल, चम्पक, कमल इत्यादि पुष्पों के भिन्न-भिन्न आसन बनाये गये थे। स्फटिक-स्तम्भ पर रत्न-जटित इन्द्रासन सुशोभित था, जिसके छत्र के चारोंओर हीरक कलश के आसपास बैडूर्य और चन्द्रकान्त मणियाँ शोभा बढ़ा रही थीं।

देवाधिदेव इन्द्र के पधारते ही सर्वत्र शान्ति स्थापित हो गई। एक प्रकार के अवर्णनीय प्रकाशका प्रसार हुआ।

इन्द्रदेव आसन पर विराजे। उसी समय देव-बालाओं की एक मंडली ने सभा-मंडप के कोने-कोने में पुष्प नहीं, पुष्पों की पंखड़ियाँ बिछा दीं। विविध सौन्दर्यमयी पंखड़ियाँ जब देवताओं के मुकुटों पर से नीचे की ओर गिरतीं, तो उनके मुख पर मृदु हास्य की रमणीय रेखा प्रकट होती। भूमि पर तो पंखड़ियों का बिछौना सा ही बिछ गया!

तत्पश्चात् ब्रह्मा के पुत्र नारदजी और पुत्री सरस्वती की वीणाओं का सुर छिड़ा। भाई-बहन दोनों सादे वस्त्रालंकारों से विभूषित, अद्वितीय सुन्दर मालूम होते थे। नारदजी के पीताम्बर का रंग सरस्वती के दुकूल से जरा भी भिन्न न था। नारदजी के गले में पारिजात की माला सुशोभित थी, तो सरस्वती के गले में पड़ी हुई मंदार-माला सुगन्ध का प्रसार कर रही थी। थे तो दोनों अल्पवयस्क से जान पड़ते; परन्तु वीणा पर उनका अद्भुत अधिकार था। एक सुन्दर गीत से समस्त सभा-मंडप को मुग्ध करके दोनों एक साथ वन्दना कर ब्रह्माजी

के चरणाम्बुजों के निकट जा बैठे।

फिर, मधुर स्वर से इन्द्रदेव बोले—पहले ज्ञानसत्त का उद्यापन करना है। रात्रि के प्रथम प्रहर में आज मेनका नृत्य करेगी और कल रम्भा। अब वाचस्पति 'सौन्दर्य-शक्ति' पर भाषण करेंगे। हम सब को कवि-शिरोमणिजी का भाषण ध्यान से सुनना चाहिये।

फिर इन्द्रदेव चारों ओर दृष्टिपात करके बोले—रतिदेवी अभी तक क्यों नहीं पधारीं? मदनराज तो पधारे हैं, ऋतुराज भी यह रहे। बसन्त! तू तो एक कुशल चित्रकार है और कला-रसिक भी। रति-रहित आज का यह चित्र क्या अपूर्ण नहीं है? आज के महोत्सव में यदि रतिदेवी न पधारीं, तो उत्सव का गौरव ही क्या? जा रतिदेवी को मेरी ओर से विशेष निमंत्रण देकर बुला ला। कहना, कवि-शिरोमणि वाचस्पति 'सौन्दर्य-शक्ति' पर भाषण देने वाले हैं; उसे सुनने के लिये अवश्य पधारें।

इन्द्रदेव की आज्ञा शिरोधार्य कर बसंत ने वहाँ से प्रस्थान किया और शीघ्र ही रति-मंदिर में जा उपस्थित हुआ।

एक सुन्दर उद्यान के मध्य, श्वेत शिला में खोदकर बनाया हुआ रति का निवास-स्थान था। उसके चारोंओर जल-कुण्ड था। इस जल-पट को पार करके जाने के लिये एक स्वर्ण-सेतु निर्मित था।

बसन्त को रति के निवास-स्थान तक जाने का कष्ट नहीं उठाना पड़ा। उद्यान के एक कोने में रति विचार-मग्न बैठी थी। बसन्त यह मनोहर दृश्य देखकर पल-भर के लिये ठहरा। स्वर्ग में सब कुछ सुन्दर है, तो भी यह कहना पड़ता है कि

सौन्दर्य सम्पन्न रति अतीव सुन्दर है !

बसंत मंद-गति से चलकर रति के सम्मुख जा उपस्थित हुआ और धीमे स्वर से बोला—देवि ! समस्त देव-मण्डल ने आपको पद-वन्दन कहलाया है। इन्द्रदेव की आज्ञा है कि 'सौन्दर्य-शक्ति' पर वाचस्पति का विवेचन सुनने के लिये आप अवश्य पधारें।

इतना कहकर बसन्त उनके सौन्दर्य, निर्मल नयन और गौरवर्ण मुख पर रमण करते हुये शुचि-रुचिर हास्य और मणिधर नाग के सदृश केश-कलाप की ओर निहारता हुआ खड़ा रह गया।

मंजुल स्वर से रति ने कहा—बसंत ! आज तो तेरा ही उत्सव है, और यहाँ आने का कार्य-भार भी तेरे ही सिर ? जब इन्द्रदेव की आज्ञा है, तो मैं कब 'ना' करती हूँ। चल !

वे दोनों नन्दन-वन पहुँचे, तो वाचस्पति अपने भाषण का अन्तिम भाग सोत्साह कह रहे थे—और सौन्दर्य शक्ति ! यह तो स्वयं अपनी रानी है। इसे किसी का भय नहीं। इस पर किसी का बन्धन नहीं। जो इसकी इच्छा, वही कानून। यह सौन्दर्य-मय है, अतएव इसका प्रत्येक कार्य भी सुन्दर और पूजनीय है। सौन्दर्य तो एक पवित्र ज्वाला की भाँति प्रज्वलित रहता ही है। इस पर आच्छादन कैसा ? इस पर तो सद्गुण का परिधान ही वांछनीय है।

थोड़ी देर ठहरकर वे फिर आगे बोले—सुन्दरता तो दैवी है। इसमें दैवी अंश है। इसीलिये तो यह सर्वत्र सत्तावान है। यदि हम इसे ललचाने के लिये जायँगे, तो हमी इसमें जल

जायँगे। यदि इसकी ओर से आँखें मूँदकर बैठे रहेंगे, तो भी दुःख सहना पड़ेगा। परन्तु, जो सौन्दर्य अपने आप हमारे समक्ष व्यक्त हो, वह तो हमारी आत्मा को सदा स्वर्गीय पक्ष अर्पण करके ऊँचा—और ऊँचा—उड़ा ले जाता है।

इतना कहकर वह अपने दिव्य आसन पर विराजे। आसन ग्रहण करने के बाद उनकी दृष्टि मदन पर पड़ी। मदन ने अत्यन्त मृदुलता से अपना मस्तक नत किया। मस्तक उठाया, तो सामने रति थी। बस, उसकी ओर एकटक देखने लगा। रति किसी विचार में मग्न थी।

ज्ञानसूत्र के उद्यापन के बाद, दूसरे समारम्भ के आरम्भ होने से पहले, विश्राम का समय था। इस कोलाहल में रति ने कई बार जाने का विचार किया। मदन रति की ओर स्वाभाविक रीति से गया। मदन की ओर दृष्टि जाते ही वह भी उसकी ओर गई। उसके पास जाकर वह बसन्त से कम्पित स्वर में बोली—बसन्त! देखा? कह, स्वर्ग में मेरे जैसा सौन्दर्य है?

बसन्त केवल एक शब्द कह सका—नहीं!

रति बोली—तो देख, तुझे सौंदर्य की आदर्श प्रतिमा तैयार करनी है न? जा, मैं तेरी सौन्दर्य-प्रतिमा बनूँगी। कल सन्ध्या समय मेरे निवास स्थान पर आना। सौन्दर्य का आदर्श चित्र तैयार करने के लिये मैं सौन्दर्य की आदर्श प्रतिमा बन कर तेरे सामने बैठूँगी।

'मेरा उपहास तो नहीं करती? देवि!

ना, ना; कल सन्ध्या को अवश्यमेव!

इतना कहकर वह विद्युत्-वेग से चली गई। यह प्रसंग

कई देवताओं की आँखों में बस गया।

दूसरे दिन, मध्याह्न का अन्त होते ही, बसन्त रति-मंदिर में जाने के लिये बाहर निकला। चित्रपट, तूलिका, चित्रकारी के लिये आवश्यक सभी समान उसके हाथ में था।

इस आनन्द-मय दिवस में उसके जीवन की यह अनमोल घड़ी थी। वातावरण स्वच्छ और शान्त था। प्रत्येक भाग से पुष्प हँस-हँसकर उसका स्वागत करते थे। उत्साह से पूरित, आनन्द से मुकुलित वह रति के मंडप में पहुँचा। वहाँ की निस्तब्धता में केवल उसकी पदध्वनि ही कर्ण-गोचर हो रही थी।

नन्दन-वन से आज उसे यहाँ का सौन्दर्य अधिक मनोहर और अवर्णनीय मालूम होता था। बसन्त तो सीधे रति-मन्दिर की ओर गया। उसके लिये सारे द्वार उन्मुक्त थे। रति उसकी प्रतीक्षा में ही बैठी थी। स्वर्ण-सेतु पार करते ही उसने बसन्त का स्वागत किया।

बसन्त अपना सामान नीचे रखकर यह विचार करने लगा कि रति को कहाँ और किस तरह खड़ा करूँ या बैठाऊँ? एक स्थान उपयुक्त समझकर उसने रति को वहाँ खड़ी रहने की सूचना दी।

पलभर तो रति ठहरी। जिस उत्तरीय से उसने अपना अंग ढँका था, उसकी ओर देखती रह गई। फिर बसन्त के बताये हुये स्थान पर जाकर किसी क्षोभ से काँपती हुई, खड़ी हो गई। उसके वस्त्र की कालिमा उसके कोमल अधर और निर्मल त्वचा पर झलक रही थी। उसका वह सौन्दर्य वन्दनीय था। प्रकाश की शुभ्र किरणों में उसका उज्जवल अंग दीप्तिमान हो गया। उसने मन के साथ अनेक आनाकानी करके कर-कमल में

पकड़ा हुआ वस्त्र छोड़ा। फूल से जैसे एक दो पंखड़ियाँ छूट पड़ें, उसी तरह उसके शरीर पर से उसका दुकूल सरक गया। भूमि पर गिरे हुये वस्त्र की ओर वह देखने लगी। प्रत्येक अंग की अतुलनीयता उचित मालूम होती थी।

बसन्त तो स्तब्ध होकर रति की ओर देखने लगा। उसने रति के नेत्रों से नेत्र मिलाये। रति कम्पित हो उठी। उसने यह क्या किया—इसी की विवेचना करती हुई वह खड़ी रही। बड़ी कठिनता से वह साँस लेती थी। बसन्त ने देखा कि वह तो अब मेरी कृपा पर ही जीवित है। रति को अपनी कृपा का पात्र समझ वह अपने आप को भाग्यशाली समझने लगा।

परन्तु इसी समय बसंत की कला-रसिक आत्मा जगी। उसने ध्यान से तूलिका उठाई। यदि वह कवि होता—केवल कवि मात्र होता—तो अब कोई नवीन घटना घटती; परन्तु वह तो चित्रकार था, वह आकृष्ट नहीं हुआ। उसके हृदय में दया का संचार नहीं रहा, और चित्रित करते समय सूचना भी देता गया—एक क्षण! हाँ बस, इसी भाँति रति, हिलना नहीं।

उसके स्वर में विजय-ध्वनि थी। रति बालक की भाँति उसकी आज्ञा का पालन करती थी। उसे एकाग्र ध्यान से निहार रही थी। वह भी एकान्त भाव से चित्र बना रहा था। उसके समक्ष सौन्दर्य की एक अप्रतिम प्रतिमा खड़ी थी, इसका ध्यान उसे था ही नहीं; वह चित्र बनाने में सर्वथा तल्लीन था। कैसा लावण्य—कितनी मृदुता—कितनी माधुरी—बसंत सब को चित्रित करने में मग्न था!

रति का ध्यान दूसरी ओर आकृष्ट हुआ। मंदिर से बाहर दृष्टिपात करते ही जल-कुन्ड में उसने कोई प्रतिबिम्ब देखा।

कोकिल का मधुर कंठ-रव भी कर्ण-गोचर हुआ। साथ ही विकच कमल पर झूमते हुये भ्रमर का गुञ्जार भी। उसे भ्रम हुआ कि सामने वृक्ष के नीचे खड़ा मदन उसकी ओर देखकर हँस रहा है।

अकस्मात् रति का वदन अधिक रक्त-वर्ण हो गया। बसंत को यदि इस बात का ज्ञान-मात्र होता तो रति उसी क्षण उसकी हो जाती। चित्रकारी की तूलिका और फलक छोड़कर उन्मुक्त हृदय से अपनी बाहुओं को पसार देने मात्र का बिलम्ब था, बस, रति उसी क्षण उसके बाहु-पाश में आबद्ध हो जाती। वह क्रीड़ेच्छु इतनी उत्कंठित हो गई थी; अखिल विश्व की वांछना रूपी रति की इस समय वह मनोदशा थी।

परन्तु बसंत तो एक वीर चित्रकार था। वह तो अपनी चित्रकारी ही में लगा रहा। उसे तत्क्षण मालुम हुआ कि रति उन्मादिनी बनती जाती है, मुह्यमाना होती जाती है।

इस बात का ज्ञान होते ही वह क्रोधित हो उठा। रति को भी क्षोभ हुआ; पर वह पुनः छोटे बालक की भाँति सरल हो गई। किन्तु उसके हृदय की गति और भी वेगवती हो उठी। उस वेग को शान्त करने के लिये उसने अपने हाथ से अपने उर को दबाया। पश्चात्ताप से भरी उसकी आँखों में अश्रु-बिन्दु झलक पड़े।

इसी क्षण बसन्त ने उसकी ओर देखा। उसकी चित्रकारी प्रायः पूर्ण हो चुकी थी। रति के चमकते हुये नेत्रों में जल-कण देखकर उसके हृदय में उथल-पुथल-सी मच गई। एक पल में उसने अनेक बार रति की ओर देखा। रति का अवर्ण-नीय सौन्दर्य उसके नेत्रों में बस गया। मैं चित्रकार हूँ, यह बात

वह भूल गया। आशा से, उत्साह से, धड़कते हुये हृदय से, उन्माद से, प्रमाद से, उसने बार-बार रति को देखा। कहा—रति! तुझे अनुचित मालूम हो, तो क्षमा करना। मैं तो तेरी आशा के अनुसार आया था। यह तेरा अश्रुपात मुझे ठीक नहीं लगता। कह दूँ, सत्य-सत्य कह दूँ?

पल-भर में उसका मनोबल विलीन हो गया। फिर बोला—रति! मेरी रति! कह तू मेरी होगी? अन्तःकरण से मेरी होगी? मैं तेरा हो चुका।

एक पल बीत गया। बसन्त की विजय क्षणिक ही रही। रति क्रोध की मूर्ति की भाँति कम्पित होकर बोली—बसन्त! यह क्या? लज्जा की बात है। जा, जैसे गुपचुप आया, वैसे चला जा।

बसन्त तो किंकर्त्तव्य-विमूढ़ होकर देखता रहा। सामने रति की सौन्दर्य-ज्वाला धाँय-धाँय कर जल रही थी। क्षण भर ठहरने पर बसन्त के पाण्डुर वदन पर कुछ साहस के चिन्ह दिखाई दिये। वह अपना सामान जहाँ का तहाँ छोड़कर वहाँ के चलने लगा। रति उसको जाते देखती रही। उद्यान में उसका कम्पित पद-चालन भी सुनती रही। उसे द्वार से बाहर जाते हुये भी स्थिर दृष्टि से देखती रही। फिर उद्यान में उसने पुनः किसी की हास्य-ध्वनि सुनी।

पहले रति ने अपना उत्तरीय सँभाला। शीघ्रतापूर्वक उसे उठाकर अपना तन ढक लिया। उसके हृदय में उसके श्वासोच्छ्वास समाते ही न थे। क्रोध, लजा और मद ने एक साथ उस पर आक्रमण कर दिया। सामने पड़े हुये एक आसन पर बैठकर वह फूट-फूटकर रोने लगी।

अस्त होते हुए सूर्य की किरणें उसके मंदिर में वातायन से प्रवेश करने का प्रयत्न कर रही थीं।

दिन भर बसन्त के हृदय में रति के शब्द शूल की भाँति गड़ते रहे। अत्यन्त परिश्रम करने पर भी वह उन्हें भूल न सका।

बसन्तोत्सव तो दूसरे दिन भी होता रहा। परन्तु बसन्त ने उसमें थोड़ा-सा भी भाग नहीं लिया। गत रात्रि के समय नृत्य-समारम्भ में भी रति और बसन्त दोनों अनुपस्थित थे। दूसरे दिन भी सायंकाल तक उन दोनों में से कोई नहीं गया।

क्रोधित इन्द्रदेव ने दोनों के समाचार लाने के लिये सरमा को भेजा। सरमा ने आकर कहा—रति तो अपने स्थान में मूर्च्छितावस्था में पड़ी है, और बसन्त अपना स्थान त्यागकर वन-वन में भ्रमण करने के लिये चला गया है।

सरमा ने इसका यथास्थित कारण भी बतलाया। सुनकर इन्द्रदेव भ्रू-भंग करके सारी सभा के बीच बड़े गम्भीर स्वर से बोले—देवलोक तो अमर है; परन्तु बसन्त और रति को पृथ्वी पर अवतरित होना होगा, और भोगने होंगे मृत्युलोक के भोग। बस, अब और नहीं, इतना ही; आज उत्सव के दिन इससे अधिक दंड उचित भी नहीं।

सारी सभा स्तब्ध हो गई। मदन तो मूर्च्छित होकर भूमि पर गिर गया। उसी दिन से पृथ्वी लोक का बसन्त वास्तविक बसन्त नहीं, और रति भी वास्तविक रति नहीं।

हत्यारा

गरमी दिन पर दिन बढ़ रही थी। पोलो की सीज़न अब नहीं रह गई थी। पोलो की अपनी जूड़ी घोड़ी को तो मैं कभी का पहाड़ पर भेज चुका था, खुद भी जल्दी ही पहाड़ पर जाने वाला था। गरमी के मारे पोलो की कौन कहे, टेनिस का सेट खेलने को भी जी नहीं करता था। हाँ, रोज सुबह-शाम थोड़ा घूम जरूर लेता, और उसी के साथ फोटोग्राफी का अपना शौक भी पूरा किया करता। कभी गाँव के बाहर पूरब की ओर जाता, कभी दक्षिण की ओर। उस दिन भी शाम को मैं हाफ़-पेन्ट और ग्लेडनेक-शर्ट पहने, हाथ में छड़ी लेकर, घूमने निकला। पीछे एक नौकर मेरा केमेरा लादे चला आ रहा था।

गाँव के बाहर, दक्षिण की ओर एक पुराना निर्जन खण्ड-हर है। उसके आगे एक बड़ा पीपल है, जिसके नीचे चबूतरा बना हुआ है। कभी कोई भूला भटका वहाँ आ टिकता है। मैं उसी ओर जा निकला। दूर ही से वहाँ गाँव वालों की भीड़ देखकर मुझे कौतूहल हुआ। हो न हो कोई नई बात जरूर है। मैं उधर कदम बढ़ाकर चला—देखूँ क्या है। और कुछ न सही खण्डहर के आगे, पीपल के नीचे गाँववालों

की भीड़ का एक अच्छा सा फोटो तो ले ही सकूँगा।

पास जाकर मैंने एक अजीब नजारा देखा। गाँव वाले ही नहीं, दारोगा और उनके सिपाही भी वहाँ मौजूद थे। सभी की आँखें चबूतरे पर बैठे हुये एक बूढ़े की ओर थीं। घुटनों तक की धोती पहने, सिर पर डेढ़ हाथ का फटा पुराना कपड़ा लपेटे, मूक भाव से अपनी निर्बल कमर को झुकाये, वह बूढ़ा दुःख की साक्षात् मूर्ति दिखाई दे रहा था। हड्डी पसली के उस लम्बे-चौड़े पिंजड़े से साफ मालूम होता था कि किसी ज़माने में वह हट्टा कट्टा मेहनती किसान रहा होगा। रूखी दाढ़ी से आवृत, मलिन चेहरे की उन दो प्रकाशहीन आँखों को देखकर सभी को उसके प्रति दया आनी चाहिये थी। किन्तु, दया की कौन कहे, सभी उस की ओर क्रोध व घृणा से देख रहे और आपस में बातें कर रहे थे।

'देखा, कैसा भोला और गरीब बना है।' एक ने कहा।

'बापरे! ऐसा अनाचार तो न देखा न सुना, मुआ बच्चे का गला घोटने से जरा भी नहीं हिचकिचाया।' दूसरे ने कहा।

मैंने कान खड़े कर लिये।

'अजी, पक्का गुण्डा है, छँटेला। देखा न, लड़के का गहना पाते ही कैसे गायब कर दिया! सीबू दादा और जगन महराज इधर से नहीं आ निकलते, तो इसके पाप कर्म को कौन देख पाता?

मैं ने फिर ध्यान से उस बूढ़े की ओर देखा मेरी आँखें लोगों की बात मानने को तैयार नहीं थीं। मेरे चेहरे के भाव को ताड़ कर वह तमाशबीन फिर बोला।

'वाह साहब, आप भरोसा नहीं करते! वह देखिये सामने,

दारोगाजी के आगे बच्चे की लाश पड़ी है।'

मैं भीड़ को चीर कर आगे बढ़ा। मुझे देखकर दारोगाजी ने झट कहा—वाह बाबू साहब आप खूब आ गये। अब तो ऐसे ऐसे पाप कर्म होने लगे हैं कि दाँतों तले अँगुली दबानी पड़ती है। यह देखिये, कैसा सीधा-सादा बनकर बैठा है—बदमाश। क्या आप अन्दाजा लगा सकते हैं कि इसी ने घण्टे भर पहले इस बच्चे को गला घोंट कर मार डाला होगा।

इतना कह कर दारोगाजी ने अपनी छड़ी से लाश के मुँह पर से कपड़ा सरका दिया। बालक के उस मुर्झाये हुये चेहरे को देखकर मैं सन्न रह गया। उधर से नजर उठाकर मैंने बूढ़े की ओर देखा। उसकी वे धूमिल आँखें बालक के खुले हुये मुँह की ओर लगी थीं। दो बड़े बड़े आँसू निकलकर उसकी दाढ़ी में समा गये।

बूढ़े की ओर इशारा करके मैंने अचरज के साथ दारोगाजी से पूछा—इसी बूढ़े ने ?

'हाँ साहब, इसी ने। चश्मदीद गवाह मौजूद हैं।' दारोगाजी ने उत्तर दिया।

मैं क्या बीच-बचाव करता ? मुझे तो उस समय भी फोटो लेने की ही बात सूझी। मैंने उस दृश्य का एक चित्र खींच ही लिया। दारोगाजी ने लाश अस्पताल भेजने का इन्तजाम किया। बूढ़े की मुश्कें कसी जाने लगीं। स्ट्रेचर पर डालकर जब दो सिपाही लाश को ले चले, तो बूढ़ा उस ओर एक बार अरे, बस एक बार, देख भर लेने दो—कह कर झपट पड़ा। बूढ़ा बीच ही में रोक लिया गया। सिपाही लाश को लेकर चल दिये। बूढ़ा दहाड़ मारकर रोने लगा। अपनी

दृष्टि में इस बनावटी रोने-धोने की चर्चा करते हुये लोग बिखर गये। मैं भी आगे न जाकर वहीं से लौट पड़ा।

सारे रास्ता ही क्या, घर लौटकर भी मैं उस बूढ़े को और उसके इस अनोखे कृत्य को नहीं भूल सका। न जाने क्यों मुझे वह बात एक पहेली-सी मालूम होने लगी। मैं उसी के सोच विचार में गर्क था। शाम का नहाना धोना भी नहीं हुआ। खाना भी बे मन से खाया। झट पट दो चार कौर पेट में ठूँसकर मैंने टमटम जुतवाई और थाने में जा पहुँचा।

दारोगाजी सीबू और जगन के बयान लिख रहे थे। बूढ़ा हिरासत में था। बड़ी आव-भगत से मुझे अपने बराबर बैठाकर दारोगाजी ने एक सिपाही को शरबत के लिये दौड़ाना चाहा, इसके लिये धन्यवाद देते हुये मैंने कहा—आप इतनी ही मेहरबानी कीजिये कि कुछ देर के लिये मैं उस बूढ़े से मिल सकूँ।

'बहुत अच्छा। पर उस बूढ़े से मिलकर कीजियेगा क्या ?'

'आपकी इजाजत हो तो'—

'वाह, भला यह कौन बड़ी बात है ? जाओ जी, बाबू साहब को वहाँ पहुँचा आओ। एक कुरसी साथ लेते जाना।'

सिपाही मुझे बूढ़े के निकट पहुँचा आया। बूढ़ा धरती पर घुटने मोड़े, दोनों हाथ टेक कर ज़मीन पर दृष्टि गड़ाए बैठा था। उसके मुँह से एक भी शब्द नहीं निकल रहा था; और मैं भी भोंदू की तरह उस कुरसी पर कुछ मिनट बैठा रहा। समझ में नहीं आ रहा था, मैं वहाँ क्यों चला आया ? कुछ समय उपरान्त जब बूढ़े ने नज़र उठाकर मेरी ओर देखा, तब मुझे ज़बान खोलने का साहस हुआ।

'क्यों जी ऐसा काम तुमसे कैसे बन पड़ा ?'—मैंने पूछा।

उत्तर में उसने मेरी ओर इस प्रकार देखा; जिसका अर्थ समझने में मुझे थोड़ा समय लगा। उसकी उस दृष्टि में सभी के प्रति—और मेरे प्रति भी—ऐसी घृणा का भाव था, जिसे देखकर मैं डर गया। हिम्मत नहीं होती थी कि उसका हाल पूछूँ; पर उसी ने सिलसिला जारी किया—

'आप ही यहाँ के ज़मीदार बाबू हैं न ?' बूढ़ा तो मुझे जानता है। दाढ़ी के झुरमुट में से मैंने उसे पहचानने का असफल प्रयत्न किया। मेरे उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना ही बूढ़ा फिर बोला—

'बहुत तकलीफ़ उठाई आपने, कहिये क्यों ?'

'यों ही। तुम्हें मालूम है, तुम पर खून का जुर्म लगाया जा रहा है ?'

'मालूम है। मालूम क्यों नहीं होता, इन्हीं हाथों—

हाँ, इन्हीं हाथों ने बच्चे का गला घोंटा था।'

'तो क्या यह सच है ?'

'सोलहों आने।'

मैं दंग रह गया। कैसा अजीब है यह बूढ़ा अपना अपराध साफ़ मंजूर कर रहा है। मैं अपनी पहेली को सुलझाने में ही पड़ा था कि उसने पूछा—

'क्यों साहब, आपको तो मालूम होगा, अब मुझे कितने दिन में फाँसी हो जायगी ? दो चार ही रोज़ में न ?'

'नहीं अभी तो छोटी अदालत में मुकदमा है। बड़ी अदालत में जाने पर कुछ होगा, चार छः महीने लग ही जावेंगे।'

मेरी बात सुनकर बूढ़ा सुस्त हो गया, मानो उसकी सारी आशायें भग्न हो गई हों।

मैंने पूछा—'बूढ़े तुम दूसरे को मारकर अब खुद मरने के लिये इतने उतावले क्यों हो रहे हो?'

बूढ़े ने एक गहरी उसाँस लेकर थोड़ी देर के मौन के पश्चात् कहा—

'मौत के लिये कौन उतावला होगा बाबू साहब? जिन्हें भर पेट खाने को माल-मलीदा मिलता है, उन्हें मौत बुरी मालूम देती है, भिखमंगे भूखों की सबसे प्यारी चीज़ मौत ही है। अच्छा जब कहने ही लगा तो अपनी सारी राम-कहानी आप को सुना दूँ। सुनाने के लिये दिल में ऊफ़ान भी आ रहा है। क्यों बाबू साहब, आपको याद होगा, आज से तीन वर्ष पहले आपकी कोठी के पिछवाड़े की ओर कई हरी-भरी बाड़ियाँ थीं? वहीं मेरी भी बाड़ी थी। उसमें साग-पात पैदा करके, उसे शहर में बेंचकर काम चलाता था। वह छोटी-सी बाड़ी ही मेरी तो सब कुछ थी। क्यों, उन बाड़ियों का ज़िक्र बुरा मालूम होता है? हाँ, बुरा ही मालूम होगा। पर सुन लीजिये, कान खोलकर सुन लीजिये। ज़मीन बेदख़ल करके उस साल आपने मेरी हरी-भरी सब्ज़ियों की खेती कटवा डाली थी। अपनी मौज-शौक के आगे हम गरीबों की कौन सुनता?

'अब तो वहाँ खूब पोलो का खेल होता होगा बाबूजी? चाहे जो हो, हम गरीबों की तो रोजी मारी गई, बना बनाया काम उजड़ गया। और काम कहाँ मिलता? दिल टूट गया; दर-दर का भिखारी होना पड़ा। हाय रे राम! तेरे दरबार में गरीबों के लिये दो मुट्ठी अनाज भी नहीं, इस पापी पेट के लिये—'

बूढ़ा इतना कहकर रुक गया। क्रोध और दुःख के मिश्रण से उसकी आँखें भर आईं। इधर मेरा भी हाल बेहाल हो रहा था। उसकी बातें सुनकर मेरा दम घुटा जा रहा था, कहाँ आ फँसा ? बूढ़े के दिल की आग भभक उठी; उसका स्वर तेज हो गया।

'हाँ, इसी पापी पेट के कारण तो आज यह सब देख रहा हूँ। सारा दोष मेरा ही है। पैसेवाले तो दूध के नहाये हैं; कौन जानता है, बूढ़े की बाड़ी जमींदार साहब ने छीनकर उसकी यह हालत कर दी। इधर बाड़ी छिनी, उधर भगवान् ने बुढ़ापे में घरवाली को उठा लिया और वह छोड़ गई दो वर्ष का बिललाता हुआ बच्चा ! सब तकदीर का खेल है। यह क्या ! आप घबड़ा-से क्यों रहे हैं ? नहीं साहब आप तनिक भी नहीं घबड़ाइये, आपको आँच भी नहीं आ सकती। भाड़ में झोंके जाने के लिये इस दुनिया में गरीबों की कमी नहीं है। उनके पेट की वह भूख सब कुछ करवाती है—'

'बच्चे की हत्या भी' मैंने साहस पूर्वक कह दिया।

'हाँ, साहब बच्चे की हत्या भी और वह भी अपने बच्चे की !'—बूढ़े का स्वर इतना उग्र हो गया था कि मैं कुरसी पर से उठ खड़ा हुआ मैंने देखा—उसकी आँखों से आग बरस रही थी। वह कह रहा था—'मैं ऐसा पापी नहीं हूँ कि किसी बच्चे की जान लेकर उसके माँ-बाप को रुलाता। वह था मेरा ही बेटा, हाँ, मेरा ही तो। नहीं मेरा नहीं था, अपने बेटे का गला भी कभी बाप घोंट सकता है ? आप नहीं जानते, हर्गिज नहीं जान सकते, बेटे को रोटी के एक टुकड़े के लिये रोज-रोज बिलखते देखने से गला घोंटकर उसे मार देना

कितना आसान है। रोटी माँगते ही झट से गला दबाकर, बस...एक ही झटका...काम खतम... ।'

बूढ़ा जोश-ही-जोश में इतना कह गया मानों बिना तेल का दीपक ऊँची लौ उठाकर बुझ गया हो। उसका वह दुख-जन्य उन्माद शान्त हो गया और अब वह इतना निश्चेष्ट हो गया कि ज़मीन पर बैठा भी नहीं रह सका। वहीं पसर कर आँसू बहाने लगा। एक क्षण भी वहाँ और ठहरना मुझे नागवार गुजर रहा था। उसे उसी हालत में छोड़कर मैं तो योंही घर की ओर भाग छूटता; पर दरवाजे पर दारोगा जी ने रोककर कहा—सुना आपने? अस्पताल से अभी खबर आई है। उस बच्चे की लाश की सिनाख्त हो गई। वह बूढ़ा आपकी जमींदारी का मीरु माली है। और वह बच्चा इसी का बेटा है।

'मालूम है'—इतना सा कहकर मैंने पूछा 'अब क्या कीजियेगा?'

'दफ़ा ३०२ में चालान।'

दारोगाजी से पिंड छुड़ाकर मैं उदास और उद्विग्न मन से घर लौट आया। घर की सीढ़ियों पर पांव रखते ही मुझे एक बात सूझी और मैं मन ही मन मुस्कराया। अपने मुख़्तार को समझा बुझाकर मैंने उसी समय दारोगा जी के पास भेजा। दारोगा जी ने मंजूर कर लिया, सौदा पट गया।

एक सप्ताह बाद बूढ़ा सबूतों की कमी के कारण रिहा कर दिया गया। अस्पताल की रिपोर्ट से भी यही जाहिर हुआ कि बच्चा भूख के मारे मर गया, सीबू और जगन दोनों ने दो तरह की बातें कहीं, जुर्म साबित न हो सका। मीरू अब मेरे यहाँ

नौकर है; बच्चों की देखभाल रखने के सिवाय उससे और कोई काम नहीं लिया जाता। वह बड़ा ईमानदार है। मेरे यहां आते ही उसने सिर्फ एक चीज चुराई है। मेरे अलबम से उस दिन वाला वह चित्र। बच्चों को वह बड़े प्यार से रखता है। मैंने कई बार ध्यान से देखा है, एकान्त पाकर घर के किसी बच्चे को गोद में लेकर वह ख़ूब रोया करता है।

ग़रीब

ग़रीबों से मुझे बड़ी नफ़रत है। मैं समझ ही नहीं सकता कि भगवान ने ग़रीबों को भेजकर अपनी ऐसी खूबसूरत दुनिया के मजे को क्यों किरकिरा कर दिया है। शहरों की तंग और अँधेरी गलियों में ग़रीबों की मौजूदगी को मैं किसी प्रकार सह भी लेता हूँ, पर जहाँ प्रकृति अपने सोलह शृङ्गार से सब मन लुभा रही हो वहाँ—वैसे सौन्दर्य-सम्पन्न स्थल के बीच ग़रीबी से मुर्झाये चेहरे देखना सचमुच नागवार होता है। मेरा बस चलता तो मैं ग़रीबी को इस दुनिया से उठा देता, ग़रीबी को देश निकाला नहीं दे सकता तो कम-से कम ग़रीबों को तो जरूर दे देता। लोग कहते हैं भगवान की कोई भी रचना निरर्थक नहीं; पर मुझे कौन समझायेगा कि ग़रीबों की रचना का भी कोई अर्थ है?

दैनिक नियम के अनुसार मैं एक संध्या को हवा-ख़ोरी के लिये अपना मोटर लेकर बाहर निकला। शहर की सीमा पार करते ही उधर आँखों को रिझाने वाली शोभा बिखरी पड़ी थी। ठीक सामने पश्चिम में आकाश सोने से भी सुन्दर हो रहा था। और उस सोने के पर में जड़ा था एक नील-वर्ण नन्ही-सी पहाड़ी का नीलम। सड़क के दोनों ओर हरे-भरे खेत

लहलहा रहे थे। बीच-बीच में पहाड़ी नाले अपने बहाव से उस सौन्दर्य को दूना कर रहे थे। इस शोभा के घर में उस पहाड़ी की तलेटी में एक छोटा-सा गाँव बसा था। उस गाँव को मैं बीसों बार देख चुका था। उस गाँव की गंदगी और उसके बाशिन्दों की मनहूसी मुझे उस ओर जाने के लिये सदा रोकती। पर प्रकृति-सुन्दरी के उस नयनाभिराम सौन्दर्य के आगे वह बाधा काम नहीं देती। बहुधा मेरे मोटर का स्टेरिंग उसी ओर घूम जाता। उस सन्ध्या को भी मैं उसी ओर उड़ा जा रहा था।

सड़क के पद-पद से मैं परिचित था। सड़क पर आँखें न रखकर मैं इधर-उधर की शोभा देखने में लगा था। कभी खेतों के बीच में खड़े एकाकी विशाल वट-वृक्ष की ओर देखता रह जाता तो कभी इधर से आकर उधर निकल जाने-वाले नाले के बाँकेपन की खूबी का अन्दाज़ मन ही मन लगाने लगता। सड़क के पास के किसी वृक्ष से कभी कोयल की आवाज़ सुनाई देती तो मोटर की गति को धीरे करके ज़्यादा देर तक उस कर्ण-मधुर स्वर को सुनने का उपाय करता। उस सुहावनी सड़क पर मैं था और मेरा मोटर था। दोनों ओर दूर पर कहीं-कहीं खेतों में किसान अपने ढोरों को हाँककर घर जाने की तैयारी में लगे थे।

मैं अच्छी स्पीड से चल रहा था। दाहिने हाथ को एक टेकरी थी, दूब की हरियाली की पोशाक पहने। टेकरी की ऊँचाई पर तीन-चार खरगोश बैठे दूब चर रहे थे। मोटर की आवाज़ सुनकर वे चौंके और दूसरे ही पल वहाँ से भागे। मैं उनकी दौड़ देखने में लग गया। टेकरी के सहारे सड़क घूमती

थी, मैं उस घुमाव से परिचित था। सड़क पर नजर दिये बिना ही मैं मोटर चलाता रहा। घुमाव खतम होने पर पहाड़ी के सहारे से बहनेवाले नाले पर एक छोटा पुल बना था। मैंने हॉर्न दिया; बदले में कोई आवाज सुनाई नहीं दी। मैंने समझा सड़क साफ है। उसी लापरवाही से मैं गाड़ी हाँकता चला गया। पुल ठीक सामने आ गया। मेरी नजर नाले पर थी, पर तिरछी नजर से मैंने देख लिया, पुल और मेरे बीच में एक गाँववाला चला जा रहा है। मैंने फिर हॉर्न दिया पर वह बूढ़ा तो अपने ध्यान में ऐसा मग्न चला जा रहा था कि बीच से हटता ही नहीं था।

फ़ासला इतना था कि मैं मोटर को रोक सकता था, पर क्यों रोकता? सड़क बनी है मोटरों के लिये, उसके लिये यों निधड़क चलने के लिये नहीं। पुलिस के भय से मैंने मोटर की स्पीड को सँभाल लिया ज़रूर पर उस बूढ़े को सज़ा देने के लिये मैंने धीरे से बाएँ मडगार्ड का एक धक्का उसे दिया। बूढ़ा उस धक्के को क्या सँभाल सकता? उसके सिर पर टोकरी थी और टोकरी में रक्खे थे ५/७ नाक। धक्का लगने से नाक बिखर गये और टोकरी और उसी के साथ एक मैले कुचैले लाल चिथड़े की छोटी-सी पोटली उछल कर नीचे नाले में जा गिरी और बूढ़ा वहीं ढलान में बुरी तरह लुढ़क गया। थोड़ा-सा मुस्करा कर और बदमाशों को सजा देने में अपनी प्रवीणता पर खुश होता हुआ मैं आगे बढ़ गया। सामने की उस पहाड़ी के आगे एक सुन्दर झील है। प्रायः वहीं तक मैं चक्कर लगाने जाया करता था। झील के तट पर साफ-सुथरा मैदान है, कभी वहीं पैदल घूम लेता, घूमने की इच्छा नहीं होती तो झील के किनारे मोटर

खड़ा करके झील की नन्हीं-नन्हीं लहरों को निहारता रहता। उस दिन उस बूढ़े को सज़ा देने का वह मनोविनोद दिमाग के लिये कुछ भारी पड़ा। घूमता क्या खाक। झील की लहरों को देखते-देखते धक्का खाकर उस बूढ़े के गिरने का नज़ारा आंखों के आगे आ जाता। झील की उसी खूबसूरती से मैं पहिले कितनी बार खुश हुआ था, पर उस दिन ऊब उठा। वापस लौटते समय, इच्छा न होते हुये भी उस पुल के पास मेरा पाँव ब्रेक पर चला गया। गाड़ी खड़ी हो गई। मैंने दाहिनी ओर देखा, वह बूढ़ा वहीं एक पत्थर का सहारा लिये पड़ा कराह रहा था। मोटर को आया देखकर वह सँभलकर बैठा। मैंने समझा बूढ़ा गाली देगा, बुरा भला कहेगा। पर उसने हाथ जोड़कर बड़े दीन-स्वर से कहा 'बाबू साहब।' मैंने अनुमान किये बूढ़ा हरजाने की भरपाई के लिये भीख माँगेगा। न जाने क्यों इस घटना से मेरे मन पर बड़ा बोझ हो रहा था। बूढ़े को कुछ देकर मैं उस भार को हलका करना चाहता था। मैं गाड़ी से नीचे उतर कर बूढ़े की ओर चला।

बूढ़े ने बिखरे हुये वे ४ / ५ नाक इकट्ठे कर लिये थे। अच्छे बड़े-बड़े नाक थे। मेरे समीप पहुँचने पर बूढ़े ने उनको मेरी ओर बढ़ाते हुये कहा—'बाबू साहब, आपका रास्ता रोककर मैंने आपको बहुत हर्ज पहुँचाया। उसकी सजा भी भोग चुका। अब आप मेहरबानी करके मेरी यह भेंट मंजूर करलें। बड़े बढ़िया नाक हैं, बाबू साहब खाकर बूढ़े को याद कीजियेगा।' मैं बूढ़े की ओर देखता रह गया, उसकी आखें भरी हुई थीं तो भी वह हँसने की कोशिश कर रहा था। मैं

कुछ चिढ़-सा गया। बूढ़ा मुझे बना रहा है ? बदमाश कहीं का। मुझे क्रोध आया, मैंने नाक लिये हुये उसके हाथों पर खींचकर लात मारी। नाक दूर जा गिरे। बूढ़ा एक चीख मारकर रह गया। बिना एक शब्द कहे मैं मोटर में लौट आया।

अपने मन के बोझ को हलका करने के बजाय उसे और भी भारी करके मैं वहां से चला। घर पहुँचते-पहुँचते शाम के खाने का वक्त हो गया। भोजन की टेबिल पर बैठे घरवाले मेरी प्रतीक्षा ही कर रहे थे। कुछ भी खाने की रुचि नहीं थी तो भी घरवालों से मन का क्षोभ छिपाने के लिये मैं झटपट हाथ मुँह धोकर टेबिल पर आ बैठा। टेबिल पर बीच में ताजे फलों की तश्तरियाँ सदा की तरह रखी थीं। दूसरे फलों के बीच एक बड़ी सी तश्तरी में नाक भी रक्खे थे—ठीक वैसे ही जैसे मैंने बूढ़े के हाथ में ठुकराये थे। खाने के लिये रही सही मेरी रुचि भी हवा हो गई। टेबिल पर विनोद-विनिमय का दौर-दौरा था तो भी मैं उसमें बिना भाग लिये चुपचाप बैठा था। मेरे बड़े भाई साहब सामने बैठे घर के बच्चों को संबोधित करके कह रहे थे। 'तो सुनाऊँ उस बूढ़े का हाल।' तीनों बच्चे एक साथ 'हाँ' बोल उठे। भाई साहब ने कहना शुरू किया।

'तुम्हें मालूम है, आज दोपहर को मैं कृष्णाजी को पहुँचाने स्टेशन गया था। वहाँ से पैदल ही लौट रहा था। स्टेशन के बाद बाजार की ऊपरवाली सड़क से जब मैं घर आ रहा था तो एक बहुत ही गरीब बूढ़ा सिर पर टोकरी में यही नाक रक्खे चला आ रहा था। मुझे देखकर टोकरी सड़क पर रखकर बूढ़ा

हाथ जोड़कर बोला—'बाबू साहब बहुत ही अच्छे नाक हैं, हुकुम हो तो बँगले पर चलूँ।' एक बार तो मैंने कह दिया जरूरत नहीं है, पर उसके रुलासे चेहरे को देखकर मुझे दया आ गई। मैंने कह दिया 'देखूँ तुम्हारे नाक।' बूढ़े ने बड़ी तत्परता से दो नाक चुनकर टोकरी में से उठाकर मेरी ओर बढ़ाये। सुशील, अभी खाकर देख लेना उन नाकों को देखते ही मेरे मुँह में क्यों पानी आ गया।'

मैं छोटे-छोटे कौर ले रहा था, खूब कुचलकर खाने पर भी कौर बिना पानी की मदद के गले से नीचे नहीं उतर रहे थे।

'...मुझे मालूम तो था कि घर पर फलों की कमी नहीं होगी। तो भी कुछ तो उन फलों से लुभाकर पर खासकर उस बूढ़े के दयनीय चेहरे को देखकर मैंने फलों का भाव पूछा। बूढ़े ने कहा 'आठ आना दर्जन।' तुम्हें मालूम है बाजार में नाक चार-पाँच आने डज़न में मिल जाते हैं, तो भी मैंने उसका भाव मंजूर कर लिया। बूढ़ा देखता रह गया, देखता क्या रह गया, मन में पछताने लगा होगा कि ज्यादा मोल कहता तो शायद वह भी मंजूर हो जाता। बूढ़े के पास करीब डेढ़ डज़न नाक थे। एक डज़न नाक अपने रुमाल में बँधवाकर मैंने जेब में हाथ डाला, रुपये ही थे। बूढ़े को रुपया देकर आठ आने वापस लेने के लिये बिना ठहरे मैं चल पड़ा। बूढ़ा दौड़कर आठ आने लौटाने आया तो मैंने कह दिया, 'जाओ यह भी ले जाओ।' बूढ़ा समझ नहीं सका कि इस उपकार का बदला कैसे दे। टोकरी में से दो और नाक लाकर उसने मुझे देते हुये कहा—'हुजूर, ये दो नाक और लेते जाइये बड़ी मेहरबानी

होगी ।' बूढ़े के चेहरे से कृतज्ञता साफ झलक रही थी। खुशी के मारे वह बावला-सा हो रहा था ।......'

मेरा सिर घूम रहा था, होश-हवाश ठिकाने नहीं थे। मैंने रोटी का टुकड़ा उठाया । दाल में डुबाने पर मेरा हाथ चला गया पानी के गिलास में । देखकर टेबिल पर बैठे सब हँस पड़े । मैं कुढ़ कर रह गया ।

'.........मैंने बूढ़े से दोनों नाक ले लिये तो वह निहायत खुश हुआ । नाक लेकर मैंने उससे कहा—'देखो बूढ़े, बचे हुए नाक किसी को बेचना नहीं, घर जाकर अपने बाल-बच्चों को बाँट देना । उन बेचारों को ऐसे नाक कब खाने को मिलते हैं । आज घर जाकर ये नाक उन्हीं को दे देना ।' बूढ़ा मेरी ओर इस तरह देखने लगा मानों मैं उसका कोई आत्मीय हूँ । वह हाथ जोड़कर बोला—'बाबू साहब आप देवता हैं। आपकी दया से मेरे कलुआ को आज ये नाक नसीब होंगे, खूब छककर खायेगा । हुजूर, उसे ये खाने को दिया करूँ तो सारे कुटुम्ब का पेट कैसे भरे ? जानवरों के खाये नाक ही उसे मिल जाते हैं, यही क्या कम है ? बूढ़े की बातों में उसकी सच्ची मनोवेदना छिपी थी ।.........''

और मेरे मनमें मेरी मनोवेदना छिपी थी ।

'.........बूढ़े से मैंने पूछा था रुपये का क्या करेगा तो उसने कहा था जाते समय वह शहर से थोड़ा चावल-गुड़ खरीद ले जायगा और कलुआ का मुँह मीठा करावेगा । सुशील, तुम्हें याद है उस दिन तुम मेरे साथ घुड़दौड़ में गए थे और अपने घोड़े पर एक-सौ तेईस रुपया पाकर तुम्हें कितनी

खुशी हुई थी। वह बूढ़ा एक रुपया पाकर उससे कम खुश नहीं हुआ होगा।.........'

'फर्क इतना ही था कि सुशील को कोई गिरहकट नहीं मिला पर उस बूढ़े को......' मैंने मन ही मन कहा।

'.........सुशील आज तुम अपनी अम्मा की बगल में टेबिल के सहारे नाक से सजी इस तश्तरी पर नजर गड़ाए बैठे हो तो उस बूढ़े का कलुआ भी अपनी झोपड़ी के बाहर आँगन में चाँद की चाँदनी में बैठा नाकों का मजा ले रहा होगा और मीठे चावलों की बाट देख रहा होगा।'

'जरूर' मैंने आहिस्ते से कहा। भाई जी का ध्यान मेरी ओर आकर्षित हुआ; वे समझे मैं उनकी बात पर व्यंग कस रहा हूँ। वे मेरे स्वभाव से परिचित थे ही, बोले, तुम तो समझ रहे होगे कि उस बूढ़े को एक रुपया देकर मैंने अनर्थ कर डाला, इससे उसकी आदत खराब हो जायगी; पर तुम क्या जानो मेरे उस एक रुपये से उसे कितना हर्ष हुआ होगा और वह कितने दिन तक उसे याद करता रहेगा।

और कोई दिन होता तो मैं उनकी बात का मुँहतोड़ जवाब देता पर उस दिन तो मेरी बोलती बन्द हो रही थी। बिना कुछ कहे मैं टेबिल से उठ खड़ा हुआ और अपने कमरे में जाकर पड़ रहा। भाई समझे उनकी बात मुझे नहीं सुहाई। भोजन के बाद जब ब्रिज की पार्टी जमी तो मुझे अनुपस्थित देखकर सभी को बड़ा आश्चर्य हुआ होगा कि ज़रा-सी बात पर मैं इतना नाराज हो गया।

मैं अपने कमरे में पड़ा छत की ओर ताक रहा था, न जाने कितने तरह की बातें मेरे दिमाग में चक्कर लगा

रही थीं। वह रात मैंने बिना नींद अनेक चिन्ताओं में बिताई।

सबेरे उठा तो मैं बहुत उदास था। सबेरे चाय पीने के बाद मैं भाई साहब के साथ पैदल घूमने जाया करता हूँ। उस दिन मैं घर पर ही रह जाना चाहता था। चाय भी मैंने अपने कमरे में ले आने को अपने नौकर से कहा। भाई जी सुनकर झट मेरे कमरे में आये। मैं आईने के सामने खड़ा उवासी ले रहा था और देख रहा था कि मन की उदासी को लोग चेहरे से कैसे भाँप लेते हैं। कमरे में पाँव रखते ही भाई साहब ने कहा, 'अरे, रात की जरा-सी बात पर इतने नाराज़ हो गये ? हाथ, मुँह धोकर चाय पीलो। तुम्हारी इच्छा ज़्यादा घूमने की नहीं होगी तो थोड़ा घूमकर लौट आवेंगे।'

मैं जाने में आनाकानी करता तो उनका आग्रह बढ़ता, उनकी बातों का जवाब देना पड़ता। बहुत ही अन्यमनस्कता से चाय पीकर मैं भाईजी के साथ घूमने के लिये निकला। हम दोनों ने बँगले के बाहर पाँव रक्खा ही था कि दरवाजे के एक ओर खड़े एक बूढ़े ने भाईजी को देखकर झुककर सलाम किया। सिर उठाकर वह कुछ कहना ही चाहता था कि उसकी नजर मुझ पर पड़ी। बिना कुछ कहे वह चार कदम पीछे हट-कर इस प्रकार डर गया मानों सामने कोई हिन्सक पशु दिखाई दे गया हो। बूढ़े की घबड़ाहट को देखकर भाई साहब को तनिक विस्मय हुआ, वे इस रहस्य को न समझ सके। उन्होंने आगे बढ़कर पूछा, 'क्यों बूढ़े आज इतने सबेरे कैसे आया ?'

'हुजूर, कुछ ताजे फल अभी आपके लिये बाड़ी से तोड़कर लाया हूँ।' बूढ़े ने उत्तर दिया।

'भैया, यह वही बूढ़ा है जिससे मैंने कल नाक खरीदे थे।' भाईजी ने मुझे संबोधित करके कहा।

'हे भगवान्, यह वही बूढ़ा है जिसे मैंने कल चोट पहुँचाई थी।' मैंने मन ही मन कहा।

भाईजी की बात और मेरे मौन से बूढ़े को थोड़ा साहस हुआ। टोकरी में से कुछ फल उठाकर वह भाई जी को देने लगा तो उनकी नजर उसके पैरों में बंधी पट्टियों पर पड़ गई। भाईजी ने पूछा, 'अरे बूढ़े तेरे पाँवों में चोट कैसे आगई? कल तो तू ठीक था।'

'हाँ, बाबू साहब, हुजूर से रुपया पाकर मैं आनन्द में मग्न आँख मींचकर चला जा रहा था। गाँव के रास्ते में नाले का एक पुल पड़ता है वही पाँव फिसलकर गिर जाने से साधारण चोट आगई है।' बूढ़े ने सरल स्वभाव से कहा।

बूढ़े को देखते ही मेरे मन में तूफ़ान-सा आगया। उसकी इस बात से तो मेरे मन की ऐसी हालत हो गई कि मुझसे रहा नहीं गया। मैं बोल उठा, 'बूढ़ा झूठा है। असली बात छिपा रहा है। बूढ़े का पाँव नहीं फिसला, यह बात बना रहा है।'

भाई जी समझे मैं बूढ़े के साथ बेजा हरकत कर रहा हूँ; उन्होंने मुझे रोककर कहा, 'एक गरीब बूढ़े पर जुर्म लगाते हो! झूठ बोलकर वह क्या फायदा उठायेगा?'

मैंने कहा, 'सुनिये भी तो! कल शाम को मोटर में जाते समय मैंने जान बूझकर मोटर का धक्का देकर इसे गिराया था और उसी की चोट से यह घायल है।'

इतना कहकर मैं चुप रह गया। बूढ़ा भी चुप था। भाईजी

भी नहीं समझे कि क्या करें। वे आश्चर्यचित्त हो रहे थे। बूढ़ा हो रहा था किंकर्त्तव्य-विमूढ़ और मैं हो रहा था अपने दोष-स्वीकार से हर्ष-विषाद पूर्ण !

उस दिन मुझे मालूम हुआ कि भगवान् ने गरीबों को इस पृथ्वी पर क्यों भेजा है !

मुझे ठीक-ठीक तो याद नहीं है; पर शायद उस समय करीब दस बजे होंगे। दिन भर काम करते-करते थक गया था। सात बजे रोटी खाते ही खाट पर पड़कर सो गया। थका-वट से नींद गहरी आती है, यह स्वभाविक बात है। मैं करीब दो-तीन घण्टे ख़ूब सोया हूँगा। भोजन करने के बाद पानी नहीं पी पाया था यों ही सो गया था। गर्मी के दिन थे, अधिक गरमी तो नहीं पड़ती थीं; साधारण गरमी थी। चैत्र का महीना था गला सूखने लगा था, पानी पीने के लिये मैं उठा। सिरहाने झारी में पानी रक्खा था। गिलास भरकर पी गया। पास ही खिड़की से स्वच्छ हवा आ रही थी। चाँद भी अपना थोड़ा-थोड़ा प्रभाव जमाने लग गया था। चाँद बाबा ठीक मेरी खिड़की के सामने धीरे-धीरे ऊपर आ रहे थे। मेरे साफ़-सुथरे बिछौने को चाँदनी और भी सफेद बना रही थी। उस दृश्य ने मेरा मन मोह लिया। मैं खाट पर बैठ गया। मेरी दोनों टाँगें खिड़की पर थीं, घुटनों पर कोहनी और हाथों पर गाल। आँख कभी जाती थीं उगते चाँद पर, कभी सामने वाले वृक्ष पर, कभी आकाश में, कभी आकाश में दौड़ते हुये बादल पर।

मेरे कान स्वतंत्र थे। सर्वत्र शान्ति थी, कहीं से शब्द भी सुनाई नहीं पड़ता था। पर एकाएक मेरा ध्यान दो

तरफ बँट गया। मुझे दो तरफ से दो गाने सुनाई दिये। एक तरफ से कोलाहल में से मीठी वाणी की रागिनी सुनाई दे रही थी। स्त्री की-सी बोली थी। कोई गा रही थी—

"गुलनारों में राधाप्यारी बसे......"

बीच-बीच में वाह-वाह की ध्वनि सुनाई पड़ती थी। दूसरी तरफ का गान एक निर्जन स्थान से अस्पष्ट शब्दों में दुःख-भरी ध्वनि में सुनाई पड़ रहा था—"निर्बल के बल राम......"

मेरा मन इन गानों की तरफ इतना खिंचा कि मैं वे सब दृश्य देखना भूल गया। मेरी सारी शक्तियाँ उन गानों को सुनने के लिये केंद्रीभूत हो गईं। मेरा मन कभी इस गाने की तरफ खिंचता कभी उस गाने की तरफ। मेरे मन को जीतने के लिये मुझे ऐसा मालूम होने लगा मानो दोनों गाने होड़ कर रहे हैं। मेरे मन की दशा विचित्र हो गई। मधुर और राग ताल के साथ ध्वनि तो पहिले गाने की आ रही थी—कानों का उधर खिंचना स्वाभाविक था, पर तो भी न जाने मेरा मन उस अस्फुट स्वर ने क्यों खींच लिया।

मुझ से न रहा गया। मैं उठकर घूमने लगा। जिधर से वह कम्पित स्वर आ रहा था उस तरफ की खिड़की के आगे मैं थोड़ी देर के लिये ठहरता; पर पहले गाने की तरफ जाते ही पीछे की ओर मुँह फेरकर लौट आता। "निर्बल के बल राम" ने मेरे मन पर विजय प्राप्त कर ली।

मैं मेरे बँगले के बाहर आकर जिधर से वह ध्वनि आ रही थी उधर चला। मेरे मन में एक विचित्र उथल पुथल मची हुई थी, मैं चाहता था कि जितनी जल्दी हो सके मैं उस स्थान पर पहुँच जाऊँ। अबतक मेरा चित्त इस प्रकार

चंचल न हुआ था। मुझे रह रहकर किसी बात की याद आती थी, पर वह क्या थी, उस बात से क्या संबंध रखती थी, कुछ भी समझ में नहीं आता था। मेरे कदमों में विचित्र शक्ति आ गई थी। मैं थोड़ी देर में ही उस ध्वनि के समीप पहुँच गया।

देखता क्या हूँ सामने एक कुटिया है, वह भी जर्जरित और पुरानी। उसका पूरा वर्णन करके न मैं पाठकों को ही रुलाया चाहता हूँ और न मैं ही उसको पुनः स्मरण करके रोया चाहता हूँ। आँखें छलछलाने आई हैं—हाँ तो वहाँ क्या था! एक बूढ़े गरीब का निवास-स्थान।

बूढ़ा गाने में मस्त था। मैंने मन ही मन उसे प्रणाम किया। चाँद के शुभ्र प्रकाश में उस वृद्ध के दर्शन कर मेरी आत्मा तृप्त हो गई। अहा! गरीब का महान् दृश्य और भगवान के भक्त का अलौकिक दर्शन; दोनों का मिश्रण कितना सुहावना था। मैं उस दृश्य को देखकर मग्न हो गया।

मैं वहाँ चित्र-लिखे की भाँति बैठ गया। श्वेत बालों से आच्छादित वह दुःखित पर शान्त मुख-मण्डल चाँद को एकटक देख रहा था और मैं उस मुख-मंडल को उसकी हृद्तंत्री की झंकार जिह्वा के द्वारा हृदयस्पर्शी कोमल स्वरों में झनझना रही थी। मेरी आन्तरिक जिह्वा उस गान को गुनगुना रही थी। मेरे मनोराज्य के कोने-कोने में उस स्वर्गीय संसर्ग का सुख भर गया। मैं आह्लादित हो गया; मेरे नेत्रों से टपटप आँसू गिरने लगे।

वृद्ध का गायन समाप्त हुआ। मैं उसके चरणों में जा गिरा। यह पहला ही अवसर था कि मैं एक गरीब, हाँ सचमुच

एक गरीब; बिल्कुल निर्धन के चरण-कमलों में झुका। मैं ईश्वर का भक्त था, उसकी आराधना करता था, उसके अन्वेषण के मार्ग ढूँढ़ता था। मंदिर में जाता, महंतजी की गद्दी के आगे घण्टों बैठता, उनके उपदेशों को ध्यान से सुनता पर मुझे वह आनन्द कभी न आया जो उस दिन आया। मैं मेरे कर्त्तव्य के पीछे पड़ा था। सोचता था, पूछता था—मेरा कर्त्तव्य क्या है? पर मुझे मालूम नहीं था कि मेरा प्यारा ईश मेरे कर्त्तव्य का आदेश देने के लिये पास ही कुटी में विराजमान है।

मेरे चरणों में गिरते ही वृद्ध चौंकता। मुझे उसने उठाया। मैं रो रहा था। क्या, अपनी पिछली गलतियाँ धो रहा था? मैंने चारों तरफ देखा, मैं कहाँ था? एक गरीब की कुटिया के पास। अहा! मेरा उद्धार हो गया! मैंने उसको धन्यवाद दिया जिसने मुझे वहाँ आने के लिये प्रेरित किया था।

मुझे याद आया, मैं सोते-सोते क्यों उठ खड़ा हुआ था! स्वप्न में मुझे एक गायन सुनाई दिया था। उसी ने मेरे मन को उस ओर प्रेरित किया था।

मंदिर में पूजा पाठ का काम समाप्त हो गया। प्रसाद का थाल लेकर मैं वापस लौटा। मंदिर से थोड़ी दूर निकल आने पर मेरा ध्यान एक करुणोत्पादक चीत्कार ने आकर्षित कर लिया। वह ध्वनि थी तो कोमल, पर उसमें करुण-रस भी पूरित था। एक क्षण के लिये मैं उसकी विवेचना करने के लिये ठहर गया, दूसरे ही क्षण मैं किसी अज्ञात-शक्ति से प्रेरित होकर उसी दिशा में चल पड़ा, जहाँ से वह चीत्कार आई थी।

आगे जाके मैंने देखा, एक जीर्ण-शीर्ण मकान है, मानो

अपने स्वामी की दरिद्रता का चित्रपट है। मैं इधर उधर बिखरे भग्नावशेषों को पार करके घर के आँगन में पहुँचा। बादलों की ओट में चाँद उग आया था। अपनी एक झलक में वह मुझे वहाँ का कारुणिक चित्र दिखा गया। वस्त्र-विहीना मृतप्राया माता की गोद में एक कंकालावशेष बालक पड़ा था। चाँद बादल में छिप गया, वह दृश्य भी आँखों की ओट हो गया, मन-मानस में एक अद्भुत विचार-लहरी उत्पन्न कर गया। मैं मन ही मन भगवान् के मंदिर के उस दृश्य की और दरिद्रदेव के इस निवास की परस्पर तुलना करने लगा। वहाँ देवकी की गोद में श्रीकृष्ण भगवान् थे, यहाँ दरिद्र माता की गोद में एक दरिद्र बालक है ! मैं किंकर्त्तव्य-विमूढ़ हो गया; किन्तु दूसरी बार चाँद के प्रकाश में उस माता की आँखों के आँसुओं ने मुझे मेरा कर्त्तव्य सुझा दिया।

प्रसाद का थाल मैंने उस देवकी-स्वरूपा जननी के सम्मुख रख दिया। अपना कीमती शाल उतार कर मैंने उसे उढ़ा दिया। अपने इस कार्य में मुझे जो आनन्द आया, उसकी तुलना मैं उस आनन्द से भी न कर सका जो मुझे मंदिर में प्राप्त हुआ था। जननी ने आशीर्वादात्मक दृष्टि से मेरी ओर देखा; थाल में एक कटोरे में दूध को देख बालक ने मेरी ओर देखकर मुस्किरा दिया। मैं कृत-कृत्य हो गया।

फिर एक बार बादल के घर से बाहर आकर चाँद ने मुझे वह दृश्य दिखाया। उसी समय मेरे जिज्ञासु मन ने प्रश्न किया—"हे भगवन् ! तुम कहाँ हो ? यहाँ अथवा वहाँ ?"

मन्दिर की ओर

"बताओ सुशीला, कृष्ण जन्म के भव्य दृश्य का हाल मुझे भी बताओ।"

जन्माष्टमी का दिन था। सुधीर के माता-पिता अभी खेत से लौटे थे, माता गाय दुह रही थी, पिता अपना हल-फावड़ा झोपड़ी में रखकर बैलों को बाँध रहा था और सुधीर अपनी बहन सुशीला के पास रसोई-घर के आगे बैठा भोजन की प्रतीक्षा कर रहा था।

चूल्हे की अग्नि के प्रकाश में उसके सुकोमल हाथ और वह सुन्दर मुखड़ा बहुत ही सुन्दर मालूम देते थे। उसके श्याम काकपक्ष पर सुनहरी आभा बहुत ही शोभा पा रही थी। सुशीला सामने बैठी मन लगाकर भोजन सामग्री बीन रही थी। रसोई-घर में चूल्हे पर चढ़े हुये बर्त्तन के अधखुले मुँह से चित्त को प्रसन्न करनेवाली सुगन्ध से मिली हुई भाप निकल रही थी।

"बता तो सुशीला, कृष्ण जन्म का उत्सव कितना सुहावना होता है?"

"ओह!" सुशीला ने कहा—"उस आनन्द का क्या वर्णन करूँ? उस अर्द्धरात्रि के समय ऐसा मालूम होता है

मानो स्वर्ग में पहुँच गये हैं। एक से एक मधुर भजन गाये जाते हैं···और बालक कृष्ण की वह पोशाक कितनी सुन्दर होती है। कारावास में बैठी माता देवकी की गोद में बालक कृष्ण की वह मनमोहनी मूरत तो सब को लुभा लेती है······सुना है जब भगवान ने जन्म लिया था तब देवताओं ने मिलकर प्रार्थना की थी—यहाँ मन्दिर में भक्त लोग भगवान की प्रार्थना करते हैं, भाँति-भाँति की भेंट चढ़ाते हैं, प्रसाद लगाते हैं, घण्टों के निनाद से चित्त प्रसन्न कर देते हैं।"

सुशीला गत वर्ष कृष्ण जन्म के समय मन्दिर में गई थी और उसी का यह वर्णन भाई को सुना रही थी। सुधीर आनन्द-मग्न होकर सब बातें सुन रहा था। उसकी बात पूरी होने पर उसने कहा—

"मैं भी आज रात को मन्दिर में जाऊँगा।"

माता ने अभी आँगन में पाँव रक्खा ही था, उसने कहा—"धीरू! तुम अभी बहुत छोटे हो। सुशीला के बराबर हो जाओगे तब तुम भी जाना।"

"नहीं, मैं तो आज ही जाऊँगा।" सुधीर ने हठ करके कहा। बड़े भोले हो धीरू तुम। मन्दिर यहाँ से कितनी दूर है, मालूम है? और वह देखो पूरब में बादल घिर आये हैं, बिजली चमकने लगी है। जाओ खा-पीकर सो जाओ, तुम्हारा मन साफ़ होगा तो जाओ बिछौना छोड़े बिना ही तुम्हें मन्दिर का उत्सव दिखाई देगा।"

"मैं तो जाऊँगा ही।" सुधीर ने निश्चयपूर्वक कहा।

कौन कहता है, "जाऊँगा ही।" तेज़ आवाज सुनाई दी। यह आवाज पिता की थी। सुधीर अपना हठ भूल गया।

वह बहुत ही भला बालक था, वह ठीक समझता था कि जब और कोई उपाय न हो तो कहना मान लेने में भलाई है।

सुधीर ने अनमने मन से थोड़ा-सा खा-पी लिया। वह कुछ नहीं बोल रहा था, पर मन ही मन सोच रहा था।

"सुशीला ! जा छोटे भाई को बिछौने में लिटा दे।"

सुशीला उसे झोपड़ी में ले गई, उसमें सुधीर का बिछौना सजा था। वह झोपड़ी उसी की थी। एक ओर उसका काठ का घोड़ा खड़ा था, सामने की लिपी-पुती दीवाल पर उसके हाथ की 'कारीगरी' शोभा पा रही थी। बिछौने के इस ओर चार-पाँच गमले रक्खे थे, जिनमें उसने फूलों के पौधे बड़े प्रेम से लगाये थे।

सुधीर को बिछौने में लिटा दिया। चादर उढ़ाकर उसने कहा—"मन्दिर के कृष्ण जन्म का वह मनोहर उत्सव तुम्हें यहीं दिखाई देगा, याद रखना।"

सुधीर ने कोई उत्तर नहीं दिया। उसे नींद नहीं आई। आँखें खोले वह बिछौने पर पड़ा रहा।

आँगन में वह माता-पिता के कदम सुन रहा था। सुशीला कोई कथा पढ़ रही थी। उसका स्वर भी उसे कभी-कभी सुनाई दे जाता था।

कुछ समय पश्चात् माता उसकी झोपड़ी में आई। उसके बिछौने पर झुककर उसने उसकी ओर देखा। बालक सुधीर नेत्र मूँदे बिना हिले-डुले पड़ा रहा।

अन्त में उसने सुना कि सब लोग बाहर चले गये हैं, द्वार बन्द हो गया है और अब सब मौन हैं।

अब सुधीर अपने बिस्तर से उठा। अँधेरे में ही उसने

अपने वस्त्र खोजे। उसके लिये यह साधारण काम नहीं था। उसे कुरता तो मिल गया, पर यह पता नहीं चला कि उसकी बाहें किस तरफ हैं। तो भी कुरते को उसने गले में डाल ही लिया। उसने बड़ी होशियारी से अपनी नन्हीं-नन्हीं अँगुलियों से बटन लगाने का प्रयत्न किया पर एक भी बटन ठीक से नहीं लगी। टोपी भी मिल गई, पर वह उसे भी सीधी नहीं पहन पाया। एक तो कपड़े पहनने का अभ्यास नहीं था, दूसरे चित्त की हालत ही अजीब हो रही थी।

गिरते-पड़ते उसने झोपड़ी का दरवाजा पा लिया। वहाँ से आँगन को पार कर वह पिछवाड़े की ओर पहुँच गया। वह घर के दरवाजे की ओर नहीं गया। वह जानता था कि वह दरवाजा बन्द होगा। किन्तु उसने पिछवाड़े का दरवाजा सरलता से खोल लिया। पीछे गाय-बैलों की चौपाल से होकर जाना ही उसने ठीक समझा।

उधर से जाते समय एक गाय चौंककर उठ खड़ी हुई, एक बकरी उसे देखकर उसका हाथ चाटने के लिये लपककर मिनमिनाने लगी। अपने नम्र स्वर में मानो वह कह रही थी—

"यहाँ हमारे पास ही ठहर जाओ, देखो कितनी गरम है यह जगह! कहाँ जा रहे हो? बाहर तो पानी बरस रहा है।"

रसोई-घर की बुझती हुई आग के क्षीण प्रकाश में वह अँगूठे के बल खड़ा होकर पिछवाड़े की आगल खोलने में समर्थ हुआ। अकस्मात् वह बाहर सड़क पर अन्धकार और बरसात में आ उपस्थित हुआ।

सुधीर का घर मन्दिर से कोई आध मील दूर था। एक सीधी सड़क को पार करके दाहिनी ओर घूमने पर थोड़ी दूर जाते ही मन्दिर का मनोहर शिखर दिखाई देता था।

बिना किसी सोच विचार के सुधीर उसी ओर चल पड़ा।

अब भी बूँदें पड़ रही थीं, सड़कों पर कीच हो रहा था, जगह-जगह नालियाँ बह रही थीं, पानी का कल-कल स्वर सुनाई दे रहा था। सुधीर के पाँव कीचड़ में फँसे जा रहे थे। उसके जूते कीचड़ से भारी हो गये, वह कीचड़ में लथपथ हो गया। उसे इस सब की कोई परवाह नहीं थी, वह तो एक मधुर कल्पना में तल्लीन था। अपनी यात्रा के अन्त में एक लुभावना दृश्य देखने की शुभाशा उसके दिल में समा रही थी। वह सोच रहा था, माता देवकी की गोद में बालक कृष्ण की बात भक्तजनों की भीड़ और भाँति-भाँति के भजनों और जयनादों की बात!

एक कल्पना की तरंग से आकर्षित वह आगे बढ़ा चला जा रहा था। किन्तु बरसात के कारण उसकी गति बहुत मन्द हो रही थी। बरसात और अन्धकार के कारण वह किसी चीज़ को नहीं पहचान रहा था, उसे यह भी मालूम नहीं था कि वह कहाँ है?

अब तो उसके पाँव फूल गये, बूँदें भी जोर से गिरने लगीं, उसके सब कपड़े भीग गये और वह ठण्ड के मारे काँपने लगा। वह लड़खड़ा कर एक पत्थर पर जा गिरा, उसका एक जूता वहीं छूट गया। जूते की खोज में उसके हाथ पाँव ठिठुर गये।

बालक कृष्ण और माता यशोदा का वह मनोहर दृश्य उसकी कल्पना से तिरोहित होगया।

रात की शान्ति उसे भयावह मालूम देने लगी, अन्धकार में वृक्ष उसे प्रेत के समान दिखाई देने लगे! भय से उसकी छाती धड़कने लगी। आँखों में आँसू भरकर उसने बड़े दीन भाव से पुकारा—"मा! मा!!" बरसात रुक गई।

सुधीर ने अपने चारों ओर देखा, सामने मंदिर का उन्नत शिखर और द्वार में आता हुआ प्रकाश स्पष्ट दिखाई दे रहा था।

उसकी कल्पना का दृश्य पुनः उसकी आँखों के आगे आ गया। मन में शक्ति और साहस का सञ्चार हुआ। वही तो है, सामने ही, स्वर्ग का अद्भुत दृश्य जिसके लिये वह इतना आतुर था।

घूमकर सड़क पार करने का उसे धैर्य नहीं रहा। वह तो सीधा ही उस प्रकाशमय मंदिर की ओर बढ़ा।

एक गड्ढे में उसका पाँव पड़ा, एक झाड़ी की जड़ से वह टकरा गया, उसका दूसरा जूता भी वहीं छूट गया।

खेत को पार करता हुआ पर गिरता पड़ता वह आगे बढ़ रहा था उसके नेत्र सामने के प्रकाश पर स्थिर थे। ज्यों-ज्यों वह आगे बढ़ रहा था, उसके नन्हें-नन्हें पद-चिह्नों की एक रेखा-सी बनती जा रही थी और सामने देव-मंदिर का द्वार बड़ा होता जा रहा था।

समीप पहुँचने पर उसे सुनाई दिया—

"नन्द-घर बाजे बधैया"

उसने अपने सुकुमार हाथ आगे की ओर बढ़ा दिये

समीपस्थ-सुख-स्वप्न के परमानन्द में उसके नेत्र-द्वय पूरे खुल गये। मंदिर के बाहरी प्राङ्गण में उसने प्रवेश किया। सामने मन्दिर के द्वार में से प्रकाश की एक आभा आ रही थी और उसे सुनाई दे रहा था कर्ण-मधुर संगीत। भक्तजन गा रहे थे।—

"नन्द के आनन्द भयो
जय कन्हैलाल की"

बालक सुधीर अपने थके हुये शरीर का सारा बल समेट कर उस प्रकाश-पुञ्ज उस संगीत-ध्वनि की ओर बढ़ रहा था।

अकस्मात् उसका पाँव फिसला और वह धरती पर गिर पड़ा; उसके नेत्र बन्द थे, मानो सहसा वह निद्राभिभूत होगया। पर उसके ओठों पर एक मधुर हास्य की रेखा विद्यमान थी।

सङ्गीत का स्वर उसी प्रकार आ रहा था—

"नन्द के आनन्द भयो।"

उसी समय मूसलाधार वर्षा आरम्भ हुई। और जल की अजस्र धारा में वह बालक चिर निद्राभिभूत हो गया।

मन्दिर में कृष्ण-जन्म के मनोहर दृश्य का सुखद स्वप्न सदा के लिए उसकी आँखों ने बन्द कर लिया।

सुर्ख सेब

मैं हर साल गर्मियों में पहाड़ पर जाता हूँ। मैदान की गरमी का तो एक प्रकार से मुझे अनुभव ही नहीं। आफ़त का मारा एक साल पहाड़ पर नहीं जा सका। गरमी से युद्ध करने में पहाड़ पर जाने से भी अधिक खर्च होगया। उस साल से बिला नाग़ा पहाड़ पर जाने का मैंने प्रण कर लिया है। घूमने-फिरने का शौक़ीन हूँ ही; कभी जाता हूँ मसूरी, तो कभी दार्जिलिंग; शिमला, नैनीताल की कौन बात। मैं ऊटी भी कई बार हो आया हूँ। इस बार आया हूँ काश्मीर में। यहाँ आकर पछता रहा हूँ, अबतक यहाँ क्यों न आया। बड़ा सुहावना है यह प्रदेश सचमुच पृथ्वी का स्वर्ग। यहाँ प्रकृति का अनूठा सौन्दर्य पृथ्वी का स्वर्ग। यहाँ प्रकृति का अनूठा सौन्दर्य तो मेरे मन को मोहे ही रहता है, पर इससे भी अधिक मैं फ़िदा हूँ यहाँ के फल फूलों पर। देश में मेरे बग़ीचे में बीसों तरह के गुलाब हैं, पर गुलाबों की ये लतायें, ये संपुट के बराबर गुलाब—ओह! मैं ईर्ष्या करके रह जाता हूँ। फूलों की बस, मत पूछो बात। नाभी से नासिका तक फल ठूँस कर तब सन्तुष्ट होता हूँ।

एक दिन की बात है, हाउस-बोट खड़ा था। डल झील के तट पर, एक एकान्त शान्त स्थल में। दोपहर में एक तूफ़ान

आकर निकल गया था। आसमान साफ़ हो रहा था। सूर्य की सुहावनी किरणों और सद्यः-स्नाता प्रकृति का आनन्द लूटने के लिये मैं हाउस-बोट की छत पर जा बैठा। ऐसे समय मेरे सामने फलों से भरी थाली न हो? मैं था और साथ में थे मेरे एक बिनोद-प्रिय मित्र! उनके परिचय से इस कहानी का प्रयोजन नहीं। बड़े उम्दा और ताज़े फल थे, देखते ही मुँह में पानी आ गया। मैंने टेबुल के सहारे कुर्सी सरकाई, चाकू उठाया और फल चुनने लगा। अपने लिये अपने प्लेट में और मित्र के लिये उनके प्लेट में मैंने कुछ फल चुनकर रख दिये। सहसा मेरी नज़र एक बहुत ही सुर्ख सेब पर पड़ी। जी खुश होगया। अपने प्लेट में रखने के लिये मैंने ज्यों ही उसकी ओर हाथ बढ़ाया कि मेरे मित्र ने उठाकर उसे अपने प्लेट में रख लिया। मैं हसरत भरी निगाह से उसकी ओर देखते ही रह गया। मेरे मित्र महाशाह ऐसे बेतकल्लुफ़ निकले कि उन्होंने उस सेब के लिये मुझे पूछा तक नहीं। ऐसी बेतकल्लुफ़ी की हम दोनों में छूट थी। मन ही मन इस बात को समझकर हम दोनों थोड़े-थोड़े हँसे। मेरे मित्र तो न जाने क्यों बहुत देर तक उस बात पर मुसकराते रहे। सेब की इस मोहक सुर्खी से मैं कुछ कुढ़ा तो ज़रूर, पर उससे भी अधिक प्रिय नग्गूगोशे पर चाकू चलाकर उसे जीभ पर रखते ही मैं उस बात पर भूल गया।

एक बार फिर उस सुर्ख सेब पर निगाह डालकर मेरे मित्र बोले—"भाई, इस सेब ने तो एक पुरानी बात की याद दिला दी। फलों के खाने में जितना लुत्फ़ आगया, उस बात को सुनने में भी उससे कम मज़ा न आयेगा। सुनो!"

हम दोनों फल खाते जाते थे। मित्र कहानी कहते जाते थे।

"क्यों याद है न, उस दिन चश्मे शाही के पास प्रकाशजी का बाग देखा था। इस बार मैं छठी बार काश्मीर आया हूँ। तीसरी बार जब यहाँ आया था, उन्हीं के यहाँ ठहरा था—बागवाली उसी कोठी में प्रकाशजी भी परिवार-सहित उसी में रहते थे। मैं उनके परिवार का-सा ही हो गया था। कभी बच्चों के साथ खेलता, तो कभी बच्चों की माँ-बाप के साथ बैठकर गम्भीरता-पूर्वक अपने ज्ञान की शेखी बघारता। प्रकाशजी हैं बड़े। मिलन सार और सरल हृदय। अपने जीवन के प्रवाह के लिये उन्होंने एक पथ निश्चित कर लिया है, जिस पर वह अबाधरूप से प्रवाहित होता रहता है। आपने तो देखा है, कोठी के साथ कितना बड़ा बाग़ है। उसमें फूल ही नहीं होते। साग-सब्ज़ी के सिवा बेशक़ीमती फल भी होते हैं।

उनके बग़ीचे के दो विभाग हैं, एक है 'बाग', दूसरा है 'बाड़ी'। बाग तो वे स्वयं देखते-भालते रहते हैं। पर बाड़ी में बहुत कम जाते हैं। आपको याद होगा, कोठी की दाहिनी ओर पहाड़ी की ढाल में जो घेरा है, वही उनकी बाड़ी है। जंगली पेड़-पौधों के बीच वहाँ कोई-कोई फलों के वृक्ष भी हैं। मैं जिस साल वहाँ था, प्रकाशजी सप्ताह में एक बार उस बाड़ी का दौरा किया करते थे। एक दिन हम दोनों बाड़ी की पगडंडियों में घूम रहे थे कि प्रकाशजी कि दृष्टि एक वृक्ष पर पड़ी। प्रशंसा-सूचक आश्चर्य से उनकी ओर संकेत करके वे बोले—'ओह! यह तो—?' एक बहुत ही सुन्दर नाम से उन्होंने उस वृक्ष का नामकरण कर दिया। इतने बड़े बाग के मालिक होकर भी वे पौधों के सम्बन्ध में बहुत कम जानते थे।

'हाँ, है तो,' हाँ-में-हाँ मिलाते हुये मैंने कहा सचमुच बहुत उम्दा सेब हैं, और होंगे भी खूब।'

'हाँ, जनाब' निहायत उमदा।' कहकर प्रकाशजी ने दरख्त के पास जाकर उसे बड़े गौर से देखा।'

ऐसे सेब बहुत कम देखने में आते हैं, यहाँ काश्मीर में भी बड़ी मुश्किल से।' कहकर मैंने उनके हर्ष को दूना कर दिया। मुझे मालूम था, वे अपने बाग के फल-फूलों की बड़ी प्रशंसा सुनकर फूल जाया करते हैं। उनका वश चलता, तो वे बारहों महीने काश्मीर में बने रहते, नीचे जाते ही नहीं। काम-काज की परवा ही नहीं करते। चार-छः महीने की फुरसत पाकर, वे काश्मीर में आकर, अपने फल-फूलों के वाह्य प्रकृति के सौन्दर्य पर मस्त बने रहते। चांदनी रात में अपने बाग में चहलकदमी करते समय आमने-सामने का दृश्य देखकर वे जब यह सोचते कि नीचे का बुलावा आते ही यहाँ से भागना होगा, तो मुझे कहा करते थे—'कोई ऐसी तरकीब बताओ, जिससे उस मृत्यु-लोक से छुटकारा पाकर इस स्वर्ग को सदा के लिये भोग सकूँ।'

बाड़ी में घूमकर बँगले पर लौटते ही उन्होंने सब बच्चों को इकट्ठा करके कहा—'देखो, बाड़ी में के सेब के उस झाड़ को किसी ने छू भी लिया, तो मैं उसकी ऐसी खबर लूँगा कि सदा याद रखेगा।' सचमुच वे इस विषय में बड़े कड़े थे। बिना उन्हें पूछे कोई एक फूल को भी हाथ नहीं लगा सकता था।

हर सातवें रोज प्रकाश जी मुझे साथ लेकर बाड़ी का दौरा किया करते थे। अब दूसरे-तीसरे दिन जाने लगे। उन्हीं सेबों

को देखने के लिये। चिनार और सफेदों के बड़े वृक्षों की छाया में जंगली गुलाबों की बेलों से सजी पगडंडियों पर होते हुये हम बाड़ी की सब्ज़ी की क्यारियों को पार करके उस सेब के पेड़ के पास पहुँचते। सेब का वह वृक्ष एक सुन्दरी कुमारी की भाँति आत्म-सम्मान के गर्व में सबसे परे खड़ा अपने पत्तों के शोभा से प्रकाशजी का मन हर लेता था। अपने हाथों को पीछे की ओर करके वे दरख्त की ओर एकटक देखने लगते। मैं भी प्रशंसा की एक दो बातें कहकर उन्हें प्रसन्न कर दिया करता। धीरे-धीरे वे हरे सेब पीले पड़े, तब उन पर गहरी गुलाबी पीलेपन में फैल गई, सेब, लाल हो गये गहरे सुर्ख।

"ठीक ऐसे ही।" कहकर मेरे मित्र ने अपने प्लेट से उठाकर वह सेब मुझे दिखाया। सच कहता हूँ, उस समय मेरे मन में ऐसा आया कि छीनकर उसे अभी चटकर जाऊँ पर मित्र ने कहा—"ललचाओ नहीं, उन सबों की बात पूरी हो जाने दो।

"आखिर प्रकाश जी एक दिन एक छोटा-सा चाकू अपनी जेब में लेकर वहाँ पहुँचे। उस दिन चुपचाप वे अकेले गये थे। मैं बच्चों और बच्चों की माँ के साथ बैठा 'कैरम" खेल रहा था। प्रकाश जी का छोटा बेटा प्रताप एक ही चिमटी में अपनी गोटी पहुँचाकर जीतने ही वाला था कि वह खेल छोड़कर बड़ी उत्सुकता से उठ खड़ा हुआ। उसके कौतूहल की ओर हम सब का भी ध्यान आकर्षित हुआ। हमने देखा, प्रकाशजी उसी गाछ के दो सुर्ख सेब हाथ में लिये चले जा रहे हैं।

"देख बेटा प्रताप, कैसे लाल-लाल, ताज़े सेब हैं।" कहकर प्रकाशजी उन सेबों को अपने हाथों में उछलाने

लगे। सच कहता हूँ, इस सेब को देखकर जैसे तुम्हारे मुँह में पानी आ रहा है, हम सबके मुँह में पानी आ गया था।

थोड़ी देर तक सब का जी ललचा कर प्रकाशजी वहीं हम लोगों के बीच बैठ गये। चाकू खोलकर बड़ी सफाई से उन्होंने एक सेब के टुकड़े किये। प्रताप के चेहरे से मैं देख रहा था कि वह उस सेब को खा जाने के लिये कितना आतुर है। सेब की वह सुहावनी सुर्खी भीतर तक पहुँच गई थी। उन छोटे-छोटे काले बीजों तक सेब गुलाबी हो रहा था। ऐसा मालूम देता था कि सेब शरबत में भिगो लिया गया है।

"प्रताप, यह देख !" उन्होंने कहा।

'पिताजी !' पुत्र ने बहुत ही आज्ञाकारी स्वर से कहा। उसे, मुझे तथा दूसरों को एक-एक टुकड़ा देकर प्रकाश जी बोले—"यों ही न निगल जाना। मज़ा लेकर खाना। देखते नहीं, कितनी उम्दी चीज़ है।"

इतना कहकर मेरे मित्र ने हमारे उस सेब पर भी चाकू चलाया। प्रकाशजी के उन सेबों का-सा उसका भी रूप-रंग था। प्रकाशजी के उस छोटे बालक के भाँति मैं भी उस सेब को चखने के लिये ललचा रहा था। सेब का एक टुकड़ा मेरी ओर करते हुये मेरे मित्र ने कहा—"लीजिये चखिये। ठीक ऐसे ही सेब थे वे।"

मैंने झट से सेब में मुँह मारा। चखते ही मज़ा किरकिरा हो गया। बाकी का सेब मैंने झील में दे मारा। सारा मुँह बे-स्वाद हो गया, सूखा आटा-सा मुँह में भर गया। मुँह साफ करके मैंने देखा, मेरे मित्र महाशय खिलखिला कर हँस रहे थे।

ललचाकर फिर ऐसा सेब खिलाने के मेरे मित्र के उस अपराध को मैं अक्षम्य समझ रहा था ।

ठीक ऐसे ही हालत उस दिन हम सब की हुई थी। बड़ी मुश्किल से सेव के उन टुकड़ों को गले के नीचे उतारकर हम प्रकाश जी की ओर देखते रह गये थे। प्रकाशजी की निराशा का तो कोई पार ही नहीं था।

प्रकाशजी की उस निराशा की कल्पना करके मैं अपनी निराशा को भूल-सा गया।

आत्महत्या

शाम को आफिस से घर जाने के लिये ज्योंही मैं मोटर में सवार हुआ कि मुझे सामने सड़क पर मेरे दो मित्र आते दिखाई दिये। यही समय उन दोनों के भी घर जाने का था और बहुधा हमारा साथ हो जाया करता था। मोटर रोककर मैंने अपने दोनों मित्रों को साथ ले लिया। अकेला होता हूँ तो सीधे घर लौट जाया करता हूँ, पर मित्रों का साथ होने पर कहीं घूमने निकल जाने के लिये स्वभावतः इच्छा होती है।

मोटर चलते ही मैंने सवाल उठाया, 'तो कहिये किस तरफ़ चलें? नदी के किनारे?'

'जैसी आपकी मर्जी।' विजय बाबू बोले। वे बेचारे इतने सरल हैं कि किसी मामले में उनकी अपनी राय होती ही नहीं। पर देवी बाबू का स्वभाव है उनके बिलकुल प्रतिकूल; वे हरएक मामले में अपनी राय रखते हैं। उन्होंने तबियत पाई है और इसी कारण उनकी ज़िन्दादिल सोहबत मुझे बहुत पसन्द है। मैंने उनसे पूछा—'आप कहें देवी बाबू, किस तरफ़ चलें?'

'ज़ू पर जाने दो।' देवी बाबू ने हम लोगों की सलाह लेने की ज़रूरत नहीं समझी, सीधे ड्राइवर को हुक्म फर्मा दिया। मैं

जानता था, देवी अपनी बात पर ही अड़ा रहेगा तो भी मैंने कहा—'कहाँ घसीटे ले जा रहे हो यार, वहाँ तो जानवरों की बदबू के कारण नाक नरक बन जायगी। इस समय चलते किसी खुली हवादार जगह में।'

'नहीं साहब ज़ू ही चलिये। शेर का वह नया पिंजरा बनकर तैयार हो गया है और काठियावाड़ से एक नया बब्बर शेर वहाँ आया है। चीते और शेरनी के फ्राख-ब्रीड़ की फिकर में आजकल ज़ू वाले पड़े हुये हैं; ज़रा चलकर देखेंगे उसका क्या नतीजा हुआ। सुना है ज़ू में एक पोलर बियर भी आया है और उसके लिये बड़ी ठंढी जगह का इन्तज़ाम किया गया है।' देवी ने जवाब दिया। पशु-विज्ञान में उसकी ऐसी रुचि देखकर मैंने ज़ू जाना ही उचित समझा।

हम लोग ज़ू पहुँचे ही थे कि बड़ा शोर-गुल सुनाई दिया। कोई इधर भाग रहा था कोई उधर। ज़ू के कर्मचारी भी बड़े परेशान दौड़-धूप कर रहे थे। लोगों के चेहरों पर बड़ी बेचैनी दिखाई दे रही थी। हम लोग आये थे ज़ू की सैर करने और यह तमाशा देखकर अचरज भरे रह गए। ज्योंही यह ध्यान में आया कि शेर पिंजरे से निकल आया होगा हमारा वह अचरज भय में परिणत हो गया। लोगों की चिल्लाहट के बीच शेर की दहाड़ की आवाज भी हमारे कानों में पहुँची। अब तो हमारी भी वही हालत हुई जो दूसरे तमाशबीनों की हो रही थी। विजय बिना कुछ कहे घूमकर मोटर की ओर लपका, मैं भी लौट कर भागना चाहता था कि देवी ने मेरा हाथ पकड़ कर कहा—'ठहरो भी, भागते क्यों हो?'

'तुम्हारी तरह जान जोखिम में डालने के लिये मैं तैयार

नहीं हूँ भाई ! देखते नहीं कोई शेर या चीता बाहर निकल आया है, तभी तो सब इतने परेशान हैं ?' मैंने एक साँस में उत्तर दिया ।

मेरा उत्तर सुनकर देबी पहले मुस्कराया, फिर हँस पड़ा। ऐसे समय उसका हँसना मुझे बहुत बुरा मालूम हुआ। मेरे चेहरे की उद्विग्नता को गौर से देखकर उसने कहा—'देखते नहीं, शेर निकला होता तो लोग ज़ू के फाटक से बाहर भागते अथवा शेर के पिंजड़े की ओर भागते ? चलो कुछ नई बात देखने को ज़रूर मिलेगी।'

देबी का तर्क मुझे कुछ ठीक तो मालूम हुआ पर 'नई बात' जानने का कौतूहल व साहस मेरे मन में न था। तो भी मैं अपनी कमजोरी ज़ाहिर नहीं होने देना चाहता था। विजय को भी साथ लेकर हम तीनों आगे बढ़े। सामने जाकर दाहिनी ओर शेर के घेरे की ओर घूमते ही हमने देखा ज़ू में आये हुये सैकड़ों तमाशबीन घेरे के चारों ओर इकट्ठे हो रहे हैं; सभी ऐसे खड़े हैं मानों कोई दिलचस्प तमाशा देख रहे हों। हम लोग भी उन सब में जा मिले। यकायक वह दशा देखकर हम हक्के-बक्के रह गये। शेर के पींजरे में एक आदमी की शेर से कुश्ती हो रही थी।

हम तीनों ने एक दूसरे की ओर देखा। हमारी ज़बानें थीं बन्द और आँखें लगीं थीं उस कुश्ती की ओर। उस आदमी के कपड़े चिथड़े हो रहे थे, बदन लोहू-लुहान हो रहा था; पर वह अभी तक शेर के दाँव में नहीं आया था। जिस वक्त हम पहुँचे वह बुरी तरह घायल होने पर भी शेर की पूँछ पकड़कर झटका लगा रहा था। शेर बेतरह चिढ़ा हुआ था, पूँछ में

झटका खाते ही और भी नाराज होकर ज्योंही घूमकर वह उस अनोखे पहलवान पर झपटा तो वह नीचे लेट गया और शेर ऊपर से निकल गया। देखनेवालों को वैसा ही आनन्द आया जैसा एक पहलवान को दूसरे पहलवान का अचूक दाँव बचाते देखकर आता है। सभी तमाशबीन उस आदमी के पक्ष में थे। उसके इस कौशल को देखकर सबको हर्ष हुआ। बालक-वृद्ध सभी ताली पीटकर चिल्ला उठे। लोगों के होहल्ले से शेर और भी झुँझलाया। अब की बार उसने जो झपाटा मारा तो वह आदमी उसके सामने के दोनों पंजों के बीच में था और उसकी गर्दन थी उसके मुँह में। एक साथ सब तमाशबीन चीख उठे। जिसकी वे हिमायत कर रहे थे उसकी हार उन सबके लिये दुःखप्रद ही नहीं बड़ी करुणाजनक भी थी। सभी देखनेवाले सिहर उठे। उधर शेर अपने शिकार को पंजे के बीच दबाकर बीच-बीच में उस पर मुँह मार लेता था और गर्दन उठाकर अपनी जीत के गर्व में गुर्रा देता था। बेचारे 'पहलवान' की देह एक-दो बार तड़पी और फिर शान्त हो गई। देखनेवाले उस दशा की ग्लानि से अथवा शेर के भय से वहाँ से हटने लगे। हम तीनों भी वहाँ से खसके। 'तुम्हें क्या इस दुर्घटना का सपना आ गया था जो वहाँ घसीट ले आये?' मैंने देवी से पूछा।

'सपना आया हो चाहे न आया हो, एक अजीब नज़ारा तो ज़रूर देखने को मिल गया।' देवी ने उत्तर दिया।

'बात तो ज़रूर अजीब थी, पर मेरा तो अब भी जी घबड़ा रहा है—' विजय की यह बात काटकर देवी बोला, 'और दिमाग़ चकरा रहा है, क्यों?' बेचारा विजय चुप रह गया और देवी हँस पड़ा।

मैंने देबी से कहा, 'तुम भी कैसे आदमी हो भाई ! एक आदमी की जान गई और तुम्हें उसका रंज भी नहीं !'

'रंज क्या होता ! उसने ऐसा जान-बूझकर क्यों किया ?' देबी ने उत्तर दिया ।

'कोई पागल था, नहीं तो अपनी जान यों जोखिम में क्यों डालता !' विजय ने अपनी राय कायम की ।

'नहीं साहब पागल नहीं, वह तो बिलकुल सयाना था ।' देबी ने कहा ।

'हाँ साहब, जाना सयाना था जो उसने अपनी जान देकर आप साहिबान को इतना दिलचस्प तमाशा दिखा दिया ।' मैंने विजय का पक्ष लेते हुये व्यंगपूर्वक कहा ।

'हरी, तुम तो बात के मर्म को जानने की कोशिश करते ही नहीं । इस आदमी के इस तरह शेर के पींजरे में कूदने में जरूर कुछ न कुछ रहस्य है ।' देबी ने बड़ी गम्भीरता से कहा ।

'क्या खाक रहस्य होगा । वह या तो था कोई आधा पागल अथवा था मूर्ख, जो अपनी वीरता दिखाने के लिये शेर से क्या मौत से कुश्ती लड़ने गया ।' मैंने कहा ।

बात करते-करते हम ज़ू के बीच के फ़व्वारे के पास पहुँच गये । वहाँ दस-बीस आदमी एकत्रित होकर इसी बात की चर्चा कर रहे थे । हमारे वहाँ पहुँचने के पहले कैसा क्या हुआ और वह आदमी शेर के घेरे में कैसे पहुँचा यह जानने को हम तीनों उत्सुक थे । उस टोली में खड़ा एक जवान सब को सुनाकर इस दुर्घटना का वर्णन कर रहा था । हमारे आग्रह से उसे सारी कहानी शुरू से कहनी पड़ी । उसने बतलाया ।:—

'करीब आध घंटे पहले की बात है। शेर के घेरे के बाहर खड़े पाँच-सात आदमी शेर की ओर देख रहे थे। शेर चुपचाप एक कोने में बैठा हाँफ रहा था। लोग उसे खड़ा करके उसे भली-भाँति देखने की कोशिश में थे पर वह टस से मस नहीं हो रहा था। मैं वहाँ खुद था। मैंने नजर उठाकर देखा, ज़ू का पहरेदार वहाँ मौजूद न था। मैंने शेर की ओर एक कंकड़ फेंका पर मेरा निशाना नहीं लगा। हम लोग शेर को उकसाने की तरकीब सोच ही रहे थे कि ऊपर से एक आदमी कूदकर घेरे में गिरता दिखाई दिया। आप लोगों को तो मालूम होगा, घेरा ऊपर से खुला है और दाहिने हाथ की ओर के उस नीम की डालियाँ घेरे पर झुकी हुई हैं। वह आदमी उस पेड़ पर चढ़कर उन डालियों पर से ही घेरे में कूद पड़ा था।

'उस आदमी के घेरे में कूदने पर भी शेर अपनी जगह से नहीं हटा। हम लोग समझे ज़ू का ही कोई आदमी होगा और इनाम पाने की लालसा से शेर के कुछ तमाशे दिखावेगा। हम लोग बड़ी उत्सुकता से देखने लगे, उधर से गुजरते हुये कुछ और आदमी वहाँ आकर खड़े हो गये।

'वह आदमी शेर के पास गया, उसने शेर को एक ठोकर लगाई। शेर उछलकर खड़ा हो गया और एक बार गुर्राकर दूसरी ओर आकर बैठ गया। हम लोग समझे शेर को पालनेवाला कोई है और शेर इससे बहुत डरता है। अब की बार शेर के पास आकर उसने फिर ठोकर मारी तो भी शेर साधारण गुर्राकर रह गया। हम लोग बड़ी दिलचस्पी से यह तमाशा देख रहे थे कि इतने में वह आदमी शेर के सामने खड़ा होकर उसके मुँह पर घूँसे मारने लगा। शेर एक आदमी के घूँसे

को क्या सहता ? झुँझलाकर वह उसकी ओर झपटा, पर कमाल थी साहब उसकी होशियारी, पलक मारते ही वह कूदकर शेर के पीछे पहुँच गया। शेर की पूँछ पकड़कर उसने व्यर्थ अपनी मौत को न्योता दिया। हम तो समझते थे कि शेर इसको जानता-पहचानता होगा, पर साहब, वह तो बिलकुल नया आदमी था, उसने न जाने क्यों वहाँ जाकर अपनी जान से हाथ धोया ?'

सारी बात सुनकर सब लोग अपने-अपने मत के अनुसार चर्चा करने लगे। हम तीनों भी इस घटना का विश्लेषण करते एक ओर चले।

'सुना, आपने सारा हाल ? अब आपकी क्या समझ में आता है ?' देबी ने पूछा।

'यही कि आदमी पागल था या सनकी, नहीं तो यों मौत के मुँह में क्यों जाता।' मैंने कहा।

'फिर वही बेहूदी बात। मैं कहता हूँ यह साफ आत्महत्या का मामला है। देख लीजियेगा।' देबी ने कहा।

'देबी, तुम्हारे दिमाग की उपज भी अनोखी होती है।' मैंने हँसते हुये कहा। 'इसे आत्महत्या ही करनी होती तो यह यों शेर के पींजरे में आकर क्यों कूदता, चुपचाप जहर की पुड़िया खाकर सो रहता।'

'यही तो विचित्र बात है। तुमने नहीं सुना, कुछ समय पहले एक हवाई-जहाज के शौकीन ने अपने जहाज को समुद्र में दे मारा था। क्यों किस लिये ? आत्महत्या के लिये ! समझे ?' देबी ने कहा।

मैं 'हूँ' करके रह गया।

कुछ देर चुपचाप चलने के बाद देवी ने फिर कहा, 'देख लीजियेगा, आज नहीं तो कल इसका रहस्य जरूर प्रकट होगा।'

इसी दुर्घटना पर तर्क-वितर्क करते हुये हम लोग घर लौट आये।

दूसरे दिन सबेरे मैंने ज्योंही अखबार उठाया, उसके पहले पन्ने पर बड़े-बड़े शीर्षकों के नीचे उसी पहले दिनवाली दुर्घटना का अतिरंजित वर्णन छपा था। मैं घटना अपनी आँखों से देख चुका था तो भी देखना चाहता था कि अखबारवालों ने इसे किस रंग रूप में प्रकाशित किया है। पढ़ते-पढ़ते मेरी नज़र इन पंक्तियों पर पड़ी :—

'उस आदमी के कपड़ों की तलाशी लेने पर पुलिस को एक चिट्ठी मिली है जिससे मालूम होता है कि उसने जान-बूझ कर ऐसा किया है। चिट्ठी में साफ़ लिखा है कि वह अपनी इच्छा से जान देने के लिये शेर के घेरे में कूद रहा है और उसके इस काम के लिये पुलिस किसी को दोषी न ठहरावे। इससे साफ ज़ाहिर होता है कि उस आदमी ने आत्महत्या की है। आत्महत्या का सचमुच यह नया तरीका है।'

अखबार को घुटनों पर रखकर मैं आँखें मूँदकर उस घटना को अपने दिमाग में दोहराने लगा। नौकर मेरे आगे चाय रखकर चला गया। कुछ देर बाद फिर अखबार पर नजर दौड़ाकर मैंने प्याले में चाय उड़ेली, इतने में ही मुझे सुनाई दिया:—

'एक प्याले में मेरे लिये भी।'

मैंने देखा, देवी चला आ रहा है। मैं समझ गया, वह आया है अपने अनुमान की सत्यता का सार्टिफ़िकेट लेने।

हम दोनों चाय पीने लगे। मेरे पास पड़े हुये अखबार की ओर संकेत करके देबी ने कहा, 'क्यों, अब तो मेरे अनुमान का विश्वास हुआ ?'

मैं चुप था। देबी ने फिर कहा, 'तो कहो, चलोगे आज इस आत्महत्या के रहस्य को खोजने के लिये ?'

मैं जानता था, देबी ऐसे मामलों में बड़ा चुस्त है और कई बार उसके साथ जाने पर बड़ी दिलचस्प बातें मालूम हो जाया करती हैं। मैं नहीं जानता था देबी कहाँ ले जायगा, तो भी मैंने उसके साथ जाना मंजूर कर लिया। उसी शाम को उस रहस्य की खोज में निकलना तय हुआ।

शाम के वक्त देबी आफिस में आगया। हम दोनों निकल पड़े रहस्योद्घाटन के लिये। रास्ते में देबी ने बतलाया कि आज सारा दिन उसने बिताया है उस अभागे आदमी का नाम व पता जानने में। शहर के दक्षिण में सन्तपुरे की बस्ती में उसका घर है और वह एक बीच की हैसियतवाला मुसलमान था। देबी ने उसके बारे में और भी बातें मालूम की थीं उसका नाम अहमद था, यहीं एक बड़ी दुकान में वह मुलाजिम था, उसकी शादी हुये अभी थोड़ा अरसा ही हुआ था।

मैंने देबी से पूछा, 'बोलो कहाँ चलोगे ?'

'संतपुरे की बस्ती में अहमद की बेवा से मिलने' देबी ने कहा।

'कैसी अजीब बात करते हो ? बिना किसी जान पहिचान के एक नौजवान बेवा से मिलने का साहस कैसे करोगे ?' मैंने कहा।

'देखो भी।' उत्तर मिला।

मैं जानता था, देबी जो कुछ करेगा सोच-समझकर ही करेगा। चन्द मिनटों हम ठीक जगह पर पहुँच गये। सड़क के सहारे एक छोटी तंग गली थी। अहमद के घर का पता उसी गली का दिया गया था। देबी ने आगे बढ़कर पहचाना। दरवाजे के नजदीक जाकर वह कुन्डी खटखटाने ही वाला था कि उसका हाथ रुक गया। दरवाजे के सहारे कान लगाकर वह कुछ सुनने लगा। इशारे से उसने मुझे भी नजदीक बुला लिया। हम लोग कान खड़े करके सुनने लगे।

'सोचो करीमा, खुदा ने हम दोनों का रास्ता साफ कर दिया। अब तो तुम मेरी हो और मैं तुम्हारा।'

जवाब में सिसकने के सिवाय कुछ सुनाई नहीं दिया।

'यह उलटी बात कैसी? करीमा तुम्हें तो आज खुशी मनानी चाहिये। तुम क्या अहमद को प्यार करती थी जो उसके नाम को रोती हो, तुम जिसे दिल से चाहती हो वह तो तुम्हारी खिदमत में मौजूद है।' सिसकने और रोने की आवाज और भी तेज हो गई।

'करीमा, बस करो बस करो। अपने दिल को रंजीदा न करो। देखो अब अहमद नहीं है और हम दोनों शादी—'

'चुप रहो, अपनी जबान को रोको।' एक चीख के साथ जमीन पर धम से गिरने की आवाज सुनाई दी।

'मेरी दिलोजान, होश करो। नाहक रंज न करो। जो गया वह तुम्हारे रास्ते में काँटा था।—'

'कल तक वह काँटा था और आज से है वह मेरा प्यारा मुर्झाया हुआ फूल। ओ! मेरा प्यारा गुल यों मुर्झा गया!' एक औरत की बड़ी दर्द-भरी आह सुनाई दी।

'करीमा, तो क्या जिसे तुम कल दिलोजान से प्यार करती थी, उसे यों ठुकराओगी ?

'एक बार नहीं लाख बार। अब मालूम हुआ उनके दिल में मेरे लिये कितनी मुहब्बत थी। ओह! मेरे आराम के लिये उन्होंने अपनी जान भी दे दी। कयामत के दिन उनको और तुमको कैसे यह मुँह दिखाऊँगी, मेरे खुदा ?'

'देखो, बात को समझो! तुम्हारे दिल में जो हवश थी उसे पूरा करने का खुदा ने रास्ता कर दिया है।'

'कल जो हवश थी वह आज नहीं है। आज तो हवश है उस मोहब्बत के पुतले के नाम पर जिन्दगी गुजार देने की। जाओ, इसी दम चले जाओ। आज से फिर कभी मुझे मुँह न दिखाना। भूल जाना करीमा ने तुम्हें कभी प्यार किया था; यही याद रखना कि करीमा एक नेक-नीयत बेवा है। जाओ तुम्हारे लिये दरवाजा खुला है।'

भीतर से साँकल खुलने की आहट हुई। हम दोनों उलटे पाँव लौटकर सड़क पर खड़ी मोटर में जा बैठे। इस रहस्य की जानकारी से हमारा मन इतना प्रभावित हो रहा था कि हम अपनी ओर से उसकी कोई आलोचना नहीं कर सके। बड़ी गहरी चिंता में मग्न-से हम दोनों चले जा रहे थे। अपने घर के पास मोटर से उतरते समय देवी ने सिर्फ इतना कहा:—

'देखी अहमद की कुर्बानी ?'

'और करीमा की—' मैंने कहा।

कला की कहानी

कला आनन्द की जननी भी है और पुत्री भी! बात एक आश्चर्य-जनक पहेली के समान है, पर है सर्वथा सत्य! आनन्दाभिभूत आत्मा से उस कला का जन्म होता है जिसके सौन्दर्य से दूसरों के हृदय आनन्दातिरेक से उन्मत्त होजाते हैं। उस कला का वास चाहे कवि की कविता में हो, चित्रकार के चित्र में हो, अथवा गायक के गीत में हो वह सदा-सर्वदा आनन्ददायिनी है।

राजा सुबोध संगीत के प्रेमी थे। अनेक संगीताचार्य उनके यहाँ आश्रित थे। अपनी-अपनी कला का प्रदर्शन करनेवाले गायकों का वहां मेला-सा लगा रहता। लोग तो यहाँतक कहते, राजा सुबोध का राज-दरबार इन्द्र का अखाड़ा है, जहां अमर-युवतियाँ अपने हृदय की वीणा को झंकृत कर निस्सीम के सन्निध्य में, आनन्दित होकर नाचती हैं, कूदती हैं और गाती हैं।

एक दिन राजा आखेट में गये। शिकार की खोज में वह रास्ता भूल गये। साथियों से वे विलग होगये। साथियों को ढूँढ़ने के लिये इधर-उधर भटकते-भटकते राजा थक गये। राजा का घोड़ा भी बहुत अधिक थक गया था। विश्राम के अतिरिक्त और

कोई उपाय न रह गया। पास ही एक निर्मल स्रोत से जल-पान करके राजा एक आम्र-वृक्ष के तले हरे बिछौने पर लेट गये। घोड़ा भी घास चरने लगा। थके हुये नेत्र मुंदना ही चाहते थे कि कानों के आग्रह से वह उन्मीलित ही रहे। आम्र-मंजरी के समीप एक कोयल मधुरालाप कर रही थी। कोयल के हृदय-स्पर्शी गान ने राजा को बेसुध-सा बना दिया। नव विकसित बसंत के सौन्दर्य-दर्शन से आल्हादित कोयल की कोमल वाणी से राजा सुबोध के मन के प्याले को छलाछल भरनेवाली कला का जन्म हुआ। राजा को इस आनन्दातिरेक ने आत्म-बिसुध बना दिया।

कोयल की एक-एक कोमल स्वर-लहरी राजा के कर्ण-कुहरों से आकर आलिंगन करती। उस आनन्द-पुलक अवस्था में राजा को अपने दरबार के गायकों के ताल-स्वर भी याद आ रहे थे। किसी अज्ञात प्रेरणा से राजा सुबोध उन दोनों की तुलना में लीन हो गये। अकस्मात घोड़ों की टाप सुनाई दी। कोयल का संगीत समाप्त होगया। उस समीपस्थ निर्दय कोलाहल के द्वारा अज्ञात के साथ उसका वह संबंध विच्छिन्न हो गया।

अस्त होते हुये सूर्य की किरणें शैल-शिखरों का आलिंगन करके विदा हो रही थी। भगवान भास्कर अपने विश्रामस्थल को लौट गये और राजा अपनी राजधानी को! राजा को आज आखेट में कुछ नहीं मिला, पर उन्हें इसकी चिन्ता न थी। उन्होंने तो आज एक अमूल्य रत्न प्राप्त किया था और वह था कला के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान।

दूसरे दिन प्रातःकाल, जब बालसूर्य की किरणें राजा के शयनागार में प्रवेश कर रही थीं, कुछ गवैये राजा को प्रसन्न

करने के लिये प्रभातियाँ सुनाने आये। पर वे ज्यों-के-त्यों लौटा दिये गये! संगीत-प्रेमी राजा के द्वारा ऐसा तिरस्कार उन्हें नया मालूम हुआ, फिर संगीतालय के स्थान में चिड़िया-घर बनाने की राजाज्ञा ने तो उन्हें आश्चर्य-चकित बना दिया।

बहुत थोड़े समय में चिड़िया-घर बन गया। सब प्रकार के पक्षी उसमें एकत्रित किये गये। उनमें कोयल भी थी।

चिड़ियाघर तैयार होजाने के दूसरे दिन प्रभात की सुखमय बेला में राजा अपने प्रासाद की खिड़की में खड़े चिड़ियाघर की ओर देख रहे थे, उनके कान कोयल की मधुर संगीत-सुधा का रसास्वादन करने के लिये आतुर हो रहे थे। कोयल की ध्वनि सुनाई दी, परन्तु उसका वह आनन्द पारतंत्र्य के दुःख में विलीन हो गया था। कर्णमधुर स्वर आज कर्णकटु सिद्ध हुआ। कोयल के इस गान का जन्म आनन्दमय हृदय से नहीं हुआ था, उसमें कला का वास कैसे होता? बंदी कभी आनन्दित नहीं हो सकता।

राजा तो वैसी ही कर्णमधुर ध्वनि सुनने के लिये उत्सुक थे। आखेट के मिस वह फिर एक बार उसी वन-प्रदेश में पहुँचे। कोयल का वही गान सुनाई दिया। वे ही कोमल और मधुर स्वर-लहरियाँ वायु के साथ क्रीड़ा कर रही थीं। उस स्वर्गीय आनन्द का उपभोग करके राजधानी में लौट आने पर राजा ने चिड़ियाघर को तोड़कर सब पक्षियों को छोड़ देने की आज्ञा दी। दो दिन पहले इतने परिश्रम और प्रेम से निर्मित संग्रहालय के संबंध में ऐसी आज्ञा सुनकर राज-दरबारियों को चिन्ता हुई कि कहीं राजा पागल तो नहीं हो गये! परन्तु उस समय तो वे आश्चर्यचकित हो गये, जब उन्होंने

बनवास के निमित्त जंगल में एक कुटीर के निर्माण की राजाज्ञा सुनी !

कुटिया बन गई। राजकुमार को शासन-भार सौंप दिया गया। राज-परिवार और पारिवारिक सुख-संभोग की सब लालसाओं को त्यागकर राजा सुबोध वन-प्रदेश के उस एकांत शांत-स्थान में वास करने के लिये चले गये !

पहले-पहल जब वह वहाँ गये थे, उन्हें मालूम भी न था कि कला क्या है ? दूसरी बार आये तो उन्हें कला का आंशिक ज्ञान था। परन्तु इस बार तो वह कला के पूर्ण ज्ञाता बनकर आये। कोयल के उन थोड़े-से मधुर स्वरों में कितना जादू भरा था।

सौन्दर्य और आनन्द का घनिष्ठ संबंध है। जहाँ सौन्दर्य है वहाँ आनन्द है। कला में सौन्दर्य है; उस विराट् स्वरूप कलाकार की कृति तो सर्वाङ्ग-सुन्दर है ही ! जो वस्तु आनन्द-प्रद नहीं वह भार-स्वरूप है। उस अज्ञात की यह रचना तो यत्र-तत्र-सर्वत्र अपने सौन्दर्य के कारण आनन्द-दायिनी है। कृति के द्वारा कलाकार से सम्बन्ध स्थापित कर लेने वाला धन्य है।

राजा सुबोध ने अपने जीवन का शेष भाग प्रकृति के इसी कलापूरित क्रीड़ाक्षेत्र में व्यतीत किया। पक्षियों के कलरव में उन्हें कला का सन्देश सुनाई दिया। किसी अज्ञात चित्रकार की तूलिका से चित्रित प्रकृति-सुन्दरी के सौन्दर्य में उन्होंने साक्षात् कला के दर्शन किये। कला के ज्ञान का विकसित स्वरूप क्या था ?—कला में कलाकार के दर्शन करना और उनकी एकता को पहचान लेना।

कुटीर के बाहर प्रांगण में पदार्पण करते ही सुबोध का मन

नाच उठता। हिमगिरि के चरणों में खड़े होकर शैल-शिखर और अस्त अथवा उदय होते सूर्य की लालिमा के आलिंगन का सौन्दर्य देखकर वह आनन्दातिरेक से आत्म-विसुध हो जाते। सरिता के कूल पर बैठकर जब वह उसके अनिंद्य और वन्दनीय सौन्दर्य को देखते, रवि-रश्मियों को उसकी तरंगों के साथ अठखेलियाँ करते हुये देखते, तो वह उस कौतुक-कार को अपने सामने खड़ा पाते।

प्रकृति के साथ उनका सम्बन्ध दिन-प्रतिदिन घनिष्ठ होता जाता था; बन के पत्ते-पत्ते से, धरती-तल के कण-कण से, सरिता की एक-एक बूँद से और नभ के वक्षस्थल को सुशोभित करनेवाले प्रत्येक उडुगन से उनकी मैत्री स्थापित हो रही थी। जगत् उनके लिये बन्धन-स्वरूप होता जा रहा था। अब वह परतन्त्र नहीं, स्वतन्त्र थे; उनकी स्वतन्त्रता बहुमूल्य थी।

सरिता-तट पर चट्टानों के बीच में जन्मे हुये एकाकी सुमन का सौरभ केवल उनकी घ्राणेन्द्रिय को ही जाग्रत नहीं करता, परन्तु उनकी ज्ञानेन्द्रिय को भी जाग्रत कर देता। नेत्रद्वय उस सुमन के सौन्दर्य में उस रचयिता का स्वरूप देखते। नदी के निर्मल नीर में स्नान करके वह केवल अपने तन को ही शुद्ध नहीं करते, परन्तु अपने मन को भी! प्रकृति के साथ ऐसा नाता जोड़कर उसे 'भूतेषु-भूतेषु विचिन्त्य,' वे अलौकिक आनन्द उपलब्ध किया करते।

ब्राह्म मुहूर्त्त का समय था, नभ की पटरी पर देदीप्यमान अक्षरों में कोई कुछ लिख रहा था। तारों का अस्तोदय उस अज्ञात लिपि के अक्षरों का बनना-बिगड़ना था। सुबोध सरिता-तट पर बैठे इस लिपि को पढ़ रहे थे। उन अस्पष्ट अक्षर-

नक्षत्रों में उन्हें उनके लेखक का स्वरूप दिखाई दे रहा था। नभ पर उनके लिये एक कलापूर्ण चित्रपट था, जिसमें कलाकार का अवलोकन किया जा सकता है। वह ध्यानस्थ होकर इस दृश्य को देखने में लीन थे। यही उनका भजन-पूजन था।

शान्त नदी में उत्पन्न लहरों ने उनके ध्यान को भंग कर दिया। एक परम रूपवती युवती नदी में स्नान करके लौट रही थी। उसके भीगे वस्त्रों में से उसका सौन्दर्य स्पष्ट रूप से व्यक्त हो रहा था। सुबोध एकटक उसकी ओर देखने लगे। उनकी आँखों से निर्झर अश्रुपात होने लगा। अनजान में युवती उनके पास से निकली, पर सहसा एक त्यागी विरक्त व्यक्ति को अपनी ओर इस प्रकार देखते देखकर उसने साहस-पूर्वक कहा—'देव! आप तो सन्यासी हैं?'

युवती का व्यंग सुबोध के कानों का द्वार खटखटाकर ही रह गया। युवती को समीप आते देखकर सुबोध ने सरल चित्त से कहा—'देवि! तुम्हारी रचना करनेवाला कितना सुन्दर होगा?'

सुबोध के आकर्षण का कारण उस रमणी का सौन्दर्य नहीं था। उनकी आँखें तो उसके द्वारा उस पटुतर कलाकार के सौन्दर्य को देख रही थीं, जिसने ऐसी नयनाभिराम मूर्ति निर्मित की! युवती अपने व्यंग के उत्तर के बदले में उनके विशाल हृदय की ऐसी स्वाभाविक बात सुनकर आश्चर्य-चकित दृष्टि से उनकी ओर देखती हुई, आगे बढ़ गई।

सुबोध ने प्रकृति के निगूढ़ रहस्यों का अध्ययन कर उसके सौन्दर्य-दर्शन में आत्म-विस्मृति का सुख अनुभव कर, अपनी

शारीरिक चेष्टाओं पर विजय प्राप्त कर ली थी। आज रमणी-सौन्दर्य को भी इस रूप में देखकर उन्होंने अपने मन पर अपूर्व विजय प्राप्त कर ली! अब वह पूर्ण स्वतन्त्र थे—मुक्त थे!

लौकीवाला

जिस समय की यह बात सुनाता हूँ, उन दिनों बिसनू काका की कमर झुकने लग गई थी, और इसका कारण था उसकी पकी हुई उम्र; साठ वर्ष में चालीस वर्ष उसने गंगा मैया के पार धरती के टुकड़े को जोतने-बोने में ही बिता दिये थे।

उस साल उसने अपनी बाड़ी में बोई थीं लौकियाँ, मन्दिरों के शिखरों पर चमकते हुए कलशों के समान बड़ी-बड़ी, और उन लौकियों का वह लुभावना रंग! बिसनू काका सूरत-शक्ल और पकने के हिसाब से अपनी बाड़ी की एक-एक लौकी को पहचानता था। उनमें से बहुत-सी लौकियों के तो उसने नाम रख लिये थे, और उन्हें वह बड़े प्यार से पालता-पोसता था। उन मोटी-ताज़ी और रंग में क़ीमती चालीस लौकियों को देखकर झट मुँह में पानी आ जाता था। बेचारा बिसनू काका उनकी ओर स्नेह-भाव से देखता रहता और उदास मन से कहता—"ओह, जल्दी ही बिछुड़ना होगा!"

आखिरकार एक दिन अपराह्न के समय उसने उनके बलिदान का निश्चय कर लिया। प्यार से पाली-पोसी उन लौकियों को भर नज़र देखकर उसने कहा—"कल इन चालीस लौकियों को तोड़कर बुधवारी बाज़ार में ले जाऊँगा। कितना भाग्यवान होगा इन्हें खानेवाला!"

छोटे-छोटे क़दम उठाकर वह घर की ओर लौटा। सारी रात उसने उस पिता के समान बिताई, जिसकी कन्या का विवाह दूसरे दिन होनेवाला हो। आँखों में नींद का नाम नहीं था। यही कहकर मन को समझा रहा था, 'मैंने इन्हें बोया भी तो इसी लिए था, चार आने से कम में एक भी लौकी नहीं बेचूँगा। कम-से-कम पाँच रुपये तो इनकी बिक्री से उठा ही लूँगा।'

अब कल्पना कीजिये उसके आश्चर्य, क्रोध और निराशा की, जब कि दूसरे दिन प्रातःकाल बाड़ी में जाकर उसने देखा कि रात भर में कोई उसकी चालीसों लौकियाँ चुरा ले गया है! क्रोध और दुःख से वह पागल-सा हो गया। बारबार पाँव पीटकर वह दाँत किटकिटाने लगा।

कुछ देर बाद वह शांत चित्त से विचार करने लगा—'चोर यहीं गाँव में तो लौकियाँ बेचने का क्या साहस करेगा। अब मालूम हुआ। रात को दो घड़ी बीते जो नाव शहरकी ओर जाती है, उसी में वह चोरी का माल लेकर भागा है। याद रखना, चोर को पकड़कर अपनी उन लाड़ली लौकियों को नहीं पा लिया, तो मेरा नाम बिसनू नहीं।' इतना कहकर वह मानो कुचली हुई लताओं को पुचकारने लगा अथवा चोरी गई लौकियों की गिनती करके चोर के लिए किसी कठोर दंड की तजवीज़ सोचने लगा। आठ बज गये और वह घाट की ओर दौड़ पड़ा।

रातकी नाव शहर के लिए शाक-सब्ज़ी ही लेकर छूटा करती थी, सबेरे की नाव में मुसाफिर भी जाया करते थे। इस नाव पर दूने मलाह रहा करते थे। पाल खोलकर बात-की-बात

में नाव शहर पहुँचा देते थे। बिसनू काका उसी पर सवार होकर घड़ी-भर में शहर के बुधवारी बाज़ार में जा पहुँचा। शाक-सब्ज़ी की एक हाट के आगे अपनी उन्हीं लौकियों का ढेर देखकर वह वहीं रुक गया। पास ही एक जमादार गश्त कर रहा था। उसे देखकर बिसनू बोला—"जमादार साहब, ये लौकियाँ मेरी हैं। इस चोर को पकड़ो!"

"कौन चोर? मुझे पकड़ो? बुढ़ऊ, होश सँभालकर बोल।" हाटवाला चकित और क्रोधित होकर उबल पड़ा।

"उलटा चोर कोतवाल को डाँटे।"

"बस, ज्यादा बकवाद न कर, आया है लौकियों का मालिक बनकर।"

"चोरी और सीना जोरी, जमादार साहब!"

"आदमियत से बात करो भाई। आपस में गाली-गलौज़ नहीं किया करते हैं।" जमादार ने कहा।

तमाशबीनों की भीड़ जमा हो गई। जमादार ने हाटवाले से प्रश्न किया "ये लौकियाँ तूने किससे खरीदी?"

"उस पार सोनपुर के बूढ़े माली धन्नू से।" दुकानदार ने बताया।

"हाँ, वही होगा, वही दुष्ट।" बिसनू काका बोल उठा—"अपनी बाड़ी में तो मेहनत-मजूरी करता नहीं, पड़ोसियों के यहाँ डाका डालकर पेट भरेगा, बदमाश!"

"बूढ़े तेरी लौकियाँ ज़रूर चोरी गई होंगी," जमादार ने तर्क किया—"पर इस बात का क्या सबूत कि यही लौकियाँ तेरी है?"

"सबूत?" बिसनू काका ने कहा—"सबूत और क्या

होगा ? मैं इन लौकियों को ठीक उसी तरह पहचानता हूँ, जिस तरह आप लोग अपनी बेटियों को, यदि कोई हों तो। जमादार साहब, आपको मालूम है कि मैंने ही इन लौकियों को पाल-पोसकर बड़ा किया है ? देखिये, यह रही 'गोलमटोल', वह रही 'मुटकी', यह है 'पेटू', वह है 'लाली' ? इसका नाम मैंने रखा था 'मखिया', क्योंकि यह ठीक मेरी छोटी बिटिया-सरीखी है।"

इतना कहकर बिचारा बिसनू काका रोने-चिल्लाने लगा।

"यह सब तो ठीक", जमादार ने फिर तर्क किया—"तुम पहचानते हो, यह तो कोई सबूत नहीं कि ये लौकियाँ तुम्हारी ही थीं। हाँ, तुम इस बात का सबूत दे सको कि ये लौकियाँ इससे पहले तुम्हारे कब्ज़े में......शाहजी, हँसते क्या हो ? जानते नहीं, क़ानून मुझसे छिपा नहीं।"

"बहुत ठीक, दूर जाने की ज़रूरत नहीं होगी। आपको यहीं अभी सबूत मिल जायगा कि लौकियाँ मेरी बाड़ी की हैं ?" बिसनू काका ने तमाशबीनों को आश्चर्य-चकित करते हुए कहा।

अपने हाथ की एक छोटी-सी पोटली धरती पर पटककर बूढ़ा वहीं नीचे बैठ गया, और पोटली की गाँठ खोलने लगा। जमादार और लोगों का आश्चर्य चरम सीमा पर पहुँच गया।

"क्या निकालेगा यह इसमें से ?" सभी पूछ रहे थे। और उसी समय भीड़ में एक और तमाशबीन आ मिला। उसे देखते ही हाटवाला चिल्ला उठा—"बहुत अच्छा हुआ, धन्नू काका, तुम भी आ गये। यह बूढ़ा कहता है कि रात को जो

ये लौकियाँ तुम मुझे बेंच गये थे, चोरी की हैं। तुम इसका खुलासा कर सकोगे।"

नवागत बात सुनकर पीला पड़ गया। वह वहाँ से भाग जाना चाहता था, पर भागता कैसे? जमादार ने उस पर रोब जमा ही लिया।

इस बीच में बिसनू काका ने चोर के मुखातिब होकर कहा—"तुम आ गये, क्या ख़ूब! अब देखना, अपने किये का फल।"

धन्नू ने होश सम्हाल कर, डपटकर कहा—"देखें, तू सच्चा है कि मैं? मेरे सिर यह चोरी नहीं मढ़ सका—और मढ़ेगा भी कैसे—तो याद रख, बीच बाज़ार में मेरी इज्ज़त लेने का दंड तुझे ज़रूर भोगना होगा। कौन कहता है कि ये लौकियाँ तेरी हैं? वाह! इन्हें तो मैंने अपनी बाड़ी में बोया था। आजही क्या, यहाँ बाज़ार में बीसों बार लौकियाँ बेंच चुका हूँ। करेगा मेरी बात को झूठ साबित?"

"देख लेना।" बिसनू ने पोटली खोलकर कहा।

पोटली में से उसने लौकियों के हरे डंठल बाहर बिखेर दिये। डंठलों से अब भी रस चू रहा था। हँसी के मारे बावला-सा होकर, घुटनों के बल बैठकर बूढ़ा किसान जमादार और उपस्थित भीड़ को सुनाकर व्याख्यान देने लगा—"क्यों भाइयो, आपने कभी चुंगी अदा की है? की होगी, तो आपने चुंगी के बाबू के पास रसीद की वह हरी कापी ज़रूर देखी होगी। रसीद फाड़ने के बाद फटी हुई जगह से मालूम हो सकता है कि रसीद उसी का आधा हिस्सा है न?"

"यह रसीद-बुक का किस्सा क्या सुनाने लगा बूढ़े ?" जमादार ने डाँट कर कहा।

"वही तो मैं साथ लेता आया हूँ। मेरी बाड़ी की रसीदें ये रहीं—चोरी गईं मेरी लौकियों के ये हैं डंठल। विश्वास नहीं हो, तो यह देखो। यह डंठल इस लौकी का है, कौन शक कर सकता है ? और यह डंठल है इसका। यह चौड़ा डंठल तो उस लौकी का दीखता है। बहुत ठीक···और यह···वह··· और यह"

अपनी बात के साथ साथ वह लौकियों पर उन डंठलों को बैठा-बैठाकर दिखाता जाता था। लोगों को बहुत ही अचरज हो रहा था कि डंठलों के टूटे हुए टेढ़े मेढ़े नाके लौकियों के नाकों के बराबर बैठते जाते थे। वे डंठल मानो लौकियों के घावों के अवशेष चिह्न-स्वरूप थे।

अब तो सब-के-सब, जमादार भी नीचे झुककर लौकियों की जाँच में बिसनू काका की मदद करने लगे, और सभी बालकों की भाँति आनन्द मग्न होकर कहते जाते थे—"हाँ, हाँ, यह देखो, यह रहा, ठीक यही तो। क्यों, है न ? और उसका वह रहा। हाँ, वही।"

गली-कूचों के बदमाशों की सीटियों से, औरतों के कोसने से, वृद्ध किसान के विजय के आँसुओं से और चोर पकड़ने के उत्साह में जमादार के घूँसों की बौछार से लोगों की हँसी दुगुनी हो गई।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि लोग इस घटना से अतीव प्रसन्न हुए, धन्नू को लौकियों की क़ीमत के पाँच रुपये लौटा देने पड़े, और बिसनू काका अत्यन्त सन्तुष्ट होकर घर

लौटा, यद्यपि वह सारे रास्ते कहता जाता था—"बाज़ार में हाट के आगे कितनी लुभावनी मालूम देती थीं वे मेरी लौकियाँ! कम-से-कम 'मखिया' को तो लौटा लाना था, खूब छककर खाता उसे और बीज बचाकर रख लेता।"*

---

*स्पेनिश लेखक आलारसों की एक कहानी।

देवदूत

छप्पन के अकाल ने अनेक कुटुम्बों को तबाह कर दिया था। कुनबी और भरवाड़ इन दो जातियों का तो उसने सर्वनाश ही कर दिया था। गोवा रैबारी भी उसके झपाटे में आ गया। छोटे-बड़े डेढ़ सौ जानवरों में से उसके पास केवल चौदह जीव बचे। उनमें सात गदहे, एक घोड़ी और छः गायें थीं। गायों में 'मेहर' और 'जाँबती' बच गईं, गोवा की तो मानो रत्न की खान लुटने से बच गई।

बत्तीस वर्ष की भरी जवानी में मस्त वह रैबारी पुरुषत्व की साक्षात् मूर्ति के समान दिखाई देता। सिर पर सुर्ख साफ़ा, दोनों हाथों में कड़े, कंधे पर रंग-बिरंगे फूलोंवाली कामली, पाँचों अँगुलियों में चाँदी-सोने के छल्ले, हाथ में कड़ी वाला, पतले पक्के बाँस की लट्ठ, कान में फूल, आँखों में सुरमा, थोड़ा-थोड़ा बल खाई हुई भराऊ मूँछ, कमर में बगसरे का पतला दुपट्टा। न लम्बा, न मोटा, कहीं से भी कुढंगा नहीं। मर्दानगी वाला उसका शरीर देखनेवाले की आँखें ठंडी करे ऐसे रूप से भरा था। संगमर्मर की मूर्त्ति के समान, शिल्पी की कल्पना के समान, अजंटा की पूर्ण रेखा में से बनी हुई-सी

उसकी जवान स्त्री पुनों के अङ्ग-अङ्ग में भी अनन्त रूप समाया हुआ था ।

वह सुखी और प्रेमी जोड़ी अपने जानवरों से अपनी जीविका चलाते । समय आने पर पशु-धन की वृद्धि करने के सपने उन्हें आनन्दित करते । उद्योग सामने था, दिल में संतोष था, और जीवन में थी सरलता । हमेशा सुखी जीवन बितानेवाले उद्योगी स्त्री-पुरुषों की भाँति वे भी आज की अपेक्षा कल के जीवन में अधिकाधिक और नित्य नवीन आनन्द प्राप्त करते । उनके ग़रीब घर, कुटुम्बीजन-जैसे पशु और सरल हृदय सब में एक प्रकार की शान्ति विराजती थी ।

(२)

सबेरे जल्दी उठकर रैबारी और रैबारिन गाय दुहते और जब रैबारिन दूध बेचने जाती तब रैबारी कलेवा करके अपने छोटे खेत में जाता । दोपहर को रैबारी जब नदी के किनारे मन्द-मन्द वायु का मज़ा लेता, तब सारी सीमा को अपने सौन्दर्य से पूरित करती रैबारिन रोटी लेकर आती । थोड़ा दूध और रोटी गोबा का दोपहर का भोजन था शाम को गाँव की सीमा की ठंडी पवन लेते दोनों लौटते । घर आकर गाय दुहते और बछड़ों की सेवा करते । भोजन करके आँगन में खाट बिछाकर सो जाते । जाँबली गाय के गले में बँधी घण्टी के मीठे स्वर को सुनते-सुनते दोनों नींद लेते ।

पुनों रोज़ एक चाय के होटल में दूध देने जाती । चाय के होटल के पास मिठाईवाले की दूकान थी और उसके पास पानवाले की दूकान ।

चाय, मिठाई और पान की त्रिपुरी का यह मेल इस ज़माने के समाचारपत्र, राजनीति और चुनाव के मेल की भाँति वहाँ जमा था। इसलिए वहाँ शौक़ीन, आलसी और छैलछबीलों का जमघट रहता। वहाँ सारे गाँव की चर्चा होती, रस-स्रोत प्रवाहित होता। और वहीं 'प्रेम' नाम का पत्ती पींजरे में क़ैद होकर अपने पंख फड़फड़ाता।

प्रतिदिन मोम की पुतली के समान वह रैबारिन चाय के होटल में दूध देकर चुपचाप चली जाती। यह बात एक शौक़ीन को अखरी। वह चाय का भक्त बन गया। पुनाँ के आने के समय, दरवाज़े की पहली कुरसी पर वह अपना आसन जमाता। स्त्री पर सहज ही विजय नहीं मिलती, इसलिए शांतिपूर्वक मौक़ा देखना स्वाभाविक है। पुनाँ की दृष्टि ने ही कह दिया कि वह निर्मल है और उसे डिगाना अभी तो संभव नहीं।

उसने उससे धीरे से पूछा—"तुम्हारे कितनी गायें हैं?" पुनाँ ने उत्तर दिया—"छै।" दूसरे दिन प्रश्न का रूप बदला—"तुम्हारे पास बकरी तो नहीं है? हमारे पड़ोस में एक लड़का बीमार है। उसकी दादी बकरी के दूध की खोज में है।"

पुनाँ ने जवाब दिया। दया से प्रेरित होकर उसका स्त्री-स्वभाव इस बात पर ज़रा रुक गया।

"बेचारे को क्या हुआ?

"बिना माँ का है। कोई दूध नहीं जँचता। तुम्हारे-जैसा अच्छा दूध दे, तो चाहिए।"

"मेरा दूध तो अच्छा ही है। पूछो पानाचंद भाई को।"

होटलवाला पानाचंद सहायता के लिए आया। बात बढ़ी

और उस दिन 'ऐ पुनाँ तू भी आज तो चाय पी,' कहकर होटलवाले ने उसे चाय पिलाई।

पीछे तो यह शौक़ीन जवान कोई न कोई बात खोज लाता। अपना प्रभाव बताने के लिए दो-चार मित्रों को केस-रिया दूध भी पिलाता। कपड़े भी नए-नए पहिनता, इत्र भी लगाता। एक नए प्रेमी की भाँति पुनाँ को आकर्षित करने की अनेक योजनायें करता।

(३)

एक दिन दोपहर को पुनाँ वहाँ से जल्दी-जल्दी निकली। उसी समय खेत से आकर गोवा ने खबर दी कि सारी गायें गाँव का पटेल पकड़ कर ले गया है और उन्हें छुड़ाने के लिए दण्ड भरना होगा। गोवा को सुनसान जंगल में एक शेर से भिड़ पड़ना जितना आसान मालूम देता, पैसे के सामने में वह उतना ही घबरा जाता। पैसे का मेल मिलाने और घर की आबरू रखने का काम रैबारिन ही करती। दूध का हिसाब उसकी ज़बान पर रहता। आज अचानक दण्ड भरना पड़ेगा, उसका जोगाड़ करने के लिए वह घर के बाहर निकली। और तो कहाँ से, एक होटलवाले से पैसे मिलने की आशा थी।

"कहाँ गया भाई पानाचन्द" कहती हुई वह होटल में आई। पानाचंद नहीं था, वहाँ था वह शौक़ीन जवान।

जवान ने पूछा—"क्यों क्या काम है? अभी आता ही होगा।"

"गया कहाँ? मेरी गायें तो गाँव का पटेल पकड़कर ले गया।"

इतने में पानाचन्द सामने से आगया।

"क्यों पुनाँ, आज इस समय क्यों ?"

रैबारिन ने सारी बात बताकर पैसे माँगे। "अरेरे ! इसमें क्या हुआ ? ये हमारे जमादार साहब तुम्हारी गायें छुड़ा देंगे, बिना पैसे। क्यों जमादार, बोलते क्यों नहीं ?"

उस जवान ने मधुर मुस्कान के साथ उत्तर दिया और तुरन्त खड़ा होकर "चलो तो, देखें कौन यों नाहक हैरान करता है ?" कहकर पुनाँ के साथ वह चल पड़ा।

उसके बाद से पुनाँ की जान-पहिचान बढ़ने लगी। उस जवान ने बिना पैसे गाय छुड़वा दी। शाम के समय वह ख़ुद दूध मँगवाने लगा। पुनाँ को उसने कई बार रसिकता से हँसाया, ख़ुश किया। चाय तो रोज ही पिलाता। पुनाँ दूध के बर्त्तन पर हाथ रखकर उसकी बातें सुनती रहती; ऐसी स्थिति उत्पन्न होगई।

पुनाँ के प्रति अपनी भक्ति फलती-सी उस जवान को दिखाई देने लगी।

(४)

साँझ हो गई, अभीतक गोवा की गायें खेत से नहीं आई थीं। काफ़ी अँधेरा फैल गया तो भी गायें नहीं आईं, इससे कई गाहक तो लौट गये। एक वही जवान चौपाल में खाट पर बैठा। पुनाँ को आते-जाते निहार रहा था।

पुनाँ बार-बार बाहर जाती, पर रैबारी का पता नहीं लगा।

रैबारी के बदले आया एक पटेल। 'कहाँ है गोवा ?' कहकर उसने गली में से कर्कश स्वर से आवाज़ दी। इस कर्कशता के प्रतिकूल मीठा लगनेवाला ग्वालिन का उत्तर मिला—"अभी नहीं आए। आज देर हो गई है।"

'कहाँ से आवे ? गाय खेत में घुस गई थीं उन्हें बाड़े में दे आया हूँ। ग्वालिन कुछ बोली नहीं, पर उसकी व्यग्रता स्पष्ट थी। इतने में वह जवान खाट पर से उठ खड़ा हुआ और गली में आकर बोला—'कौन है ? डोसा पटेल ?'

कर्कश कुनबी ने ग़ुलाम की-सी निर्बलता से उत्तर दिया, 'हाँ, जमादार साहब; मैं ही हूँ।' जवान ने आशा के स्वर में कहा—"ठीक, जा। बाड़े में से गायों को घेर ला। देखता नहीं, दूध के बिना बैठा हूँ।"

'मुझे क्या ख़बर थी, मालिक!' कहता हुआ कुनबी आजिज़ी करने लगा। इतने में थका-थकाया गोवा धीरे धीरे क़दम उठाता हुआ आ पहुँचा।

ग्वालिन जवान की ओर प्रशंसा-भरी निगाह से देखने लगी। गोवा आया पर 'गाय बाड़े में बन्द हो गई" इतना-सा कहकर बैठ गया। पैसे की व्यवस्था करने में पुनाँ का जी जलकर खाक हो जायगा, यह वह जानता था, इसीलिए विशेष कुछ न बोला।

जवान का स्वर और सत्तादर्शक बना—'डोसा पटेल! गाय ले आता है या मैं बाड़े तक धक्का खाऊँ ?'

'अभी लाया, अभी लाया।' कहकर कुनबी ने गोवा को साथ चलने के लिए कहा।

गोवा गया। पुनाँ फिर एक बार जवान की ओर प्रशंसा-भरी निगाह से देखने लगी। वह अकारण ही यह उपकार कर रहा है, ऐसा उसे मालूम दिया। ग्वालिन अपनी कमज़ोरी अथवा आभार के कारण थोड़ी-सी मुस्कुरा दी।

'आज तुम बहुत ठीक आ गए।' ग्वालिन जवान की ओर देखकर मीठे स्वर से बोली।

'इसमें क्या?' कहकर जवान ने बात टाली; पर उसकी आँख का नशा ग्वालिन ताड़ गई। वह कुछ आगे बढ़ा, 'तुम्हारी ये हाथ की चूड़ियाँ बहुत क़ीमती हैं। कितने में आती हैं?' कहकर उसने पुनाँ का हाथ अपने हाथ में ले लिया।

पुनाँ के मीठे मौन से उसे उत्तेजन मिला। प्रगल्भता से उसने उसके हाथ का एक मीठा चुम्बन लिया। पुनाँ के नत-मस्तक को हाथ से ऊँचा करके.........

पुनाँ भी थोड़ी विचलित हुई। दोनों के बीच का परदा दूर होता दिखाई दिया। दूर नहीं हुआ, दूर होता-सा दिखाई दिया।

(५)

इस बात को बीते पन्द्रह दिन हो गए।

घर में एक नई चिन्ता उत्पन्न हुई। महारानी-सरीखी जाँबली गाय बीमार पड़ गई।

शाम को खेत से लौटकर गोवा पहले-पहल गाय को देखने दौड़ा।

आगे रक्खी हुई सानी ज्यों-की-त्यों पड़ी थी। पानी भी—अछूता पड़ा था। गोवा ने उसके पास जाकर उसके सिर और गले पर हाथ फेरा। 'जाँबली माँ! जाँबली माँ!' कहकर उसने उसका प्यार किया। पर गाय ने एक बार उसकी ओर देखकर उसके हाथ से गर्दन छुड़ाकर एक ओर झुका दी। गोवा ने चारा साफ करके पानी और भी पास सरकाया पर गाय तो हिली भी नहीं।

कपड़ा ओढ़े एक तरफ़ खड़ी पुनाँ आँसू टपका रही थी। वह बोली—"आज तो इसने एक तिनका भी नहीं छुआ। कल तो एक पूला खाया भी था।" गोवा ने आश्वासन दिया—'भगवान का विचारा होगा।' पर गाय की दशा देखकर उसका कलेजा हाथ में नहीं रहा। 'जाँबली माँ!' कहते ही उसकी आँखों में आँसू भर आये। गाय ने एक बार आँखें खोलकर फिर मूँद लीं। अनेक प्रयत्न करने पर भी वह आँख मूँदे पड़ी रही।

'जाँबली माँ' पुनाँ ने भी मीठे स्वर से कहा।

दोनों जने देर तक लालटेन लिए बैठे रहे, पर गाय शान्त ही पड़ी रही।

बहुत रात बीते वे दोनों सोने गये।

रात बीतने के पहले ही गोवा अचानक जाग उठा। उसके मन में तो 'जाँबली, जाँबली' की रट लगी थी। बिना गाय के जगत की कल्पना से उसका सारा शरीर काँप रहा था।

लालटेन लेकर वह धीरे-धीरे गाय की ओर गया। गाय वैसे ही पड़ी थी। ऊपर निःसीम आकाश में अनेक तारे खिले हुए थे। धीमी, ठंडी हवा की लहरों से वृक्षों के पत्ते हिल रहे थे। सर्वत्र फैली हुई निःस्तब्धता हृदय के द्वार खोले देती थी।

गोवा ने गाय के शरीर पर हाथ फेरा। 'जाँबली माँ, जाँबली माँ, जाँबली माँ' तीन बार कहकर उसने प्रेम से उसे पुकारा, किन्तु गाय ने न आँख खोली, न कान हिलाए और न पूँछ।

गोवा की आँखें झरने लगीं। कितने वर्षों का इस गाय का सम्बन्ध आज टूट जायगा, और कल सवेरे वह अपने थोड़े से जानवर लेकर निकलेगा तो महारानी-सी जाँबली के बिना अन्धकार मालूम देगा, इसकी कल्पना से उसका हृदय डाँवा-डोल हो गया।

मरण की अन्तिम आवाज़ की तरह, गाय चौंककर उठ बैठी और अति दुःखमय स्वर से दो बार 'भाँ भाँ' करके फिर गिर पड़ी।

'अरेरे! हमारे पाप से गाय गई।......जाँबली! महा-रानी!...म...हा...रा...नी...माँ...!'

प्राचीन कथा में सुनी अथवा किसी ब्राह्मण के मुख से सुनी बात ने उसके मन में घर कर लिया था। दुःख को आते देखकर, बहुत बार उसे पाप का परिणाम मान लेने की बुद्धि मनुष्य में प्रकट होती है।

'मेरा पाप! मेरा पाप!...उसी से गाय गई।' वह पुकार कर कह उठा।

उसी समय जगकर गाय देखने के लिए आती हुई पुनाँ 'पाप' और 'उसी से गाय गई', ये वाक्य सुनकर चौंक पड़ी।

गोवा के वाक्यों को पूरा समझे बिना, उनका अपने जीवन के साथ सम्बन्ध बाँधकर वह घबड़ा उठी। गाय उसी के पाप से गई!

वह गोवा के पास आ पहुँची।

'गाय की अन्तिम राँभ सुनी?'

'हाँ..'पुनाँ नरम पड़ गई। उसे रुलाई आने लगी। गोवा को रोते देखकर उसे बहुत बुरा मालूम दिया।

'मेरे पाप का परिणाम है,' कहकर गोवा रोता-रोता बोला, 'एक दिन मेरी गुलेल की मार खाकर एक छोटा पंछी तड़फड़ा कर गिर पड़ा था। हायरे! पाप के दंड से तो शायद ही छुटकारा हो।'

पुनाँ अचानक नीचे झुकी, गोवा के पैरों में गिर पड़ी। 'रैबारी, रैबारी! मेरे पाप से यह जाँबली गाय जा रही है।'

'तेरे पाप से?...अरे रे! तेरा सरीखी की तो छाया में आदमी पवित्तर हो जाय!'

'ना' गाय मेरे पाप से मर रही है। गाय को—छूत—लगी है।'

'अरी बावली' शास्तर में तो पंछी मारने का पाप है।'

पूनाँ तो फूट-फूट कर रोने लगी, 'ना मेरा पाप। मेरे पाप से गाय गई। मुझे माफ़ करो।'

'पर तेरा पाप क्या है?'

'मैंने उस जवान को, जो हमेशा आता है, बुरी निगाह से अपनी ओर देखने दिया है। इसी पाप से हमारी जाँबली गाय को छूत लगी है।'

गोवा ठहर गया। जोग माया के अवतार-सरीखी अपनी पुनाँ में इतना-सा दोष है, यह मानने को वह तैयार नहीं था।

'गोकली' तूँ मुझे दण्ड दे।'

'दण्ड देनेवाला तो है दीनानाथ, पर रैबारिन! भला यह तो कह, तूने मेरे में क्या कमी देखी?'

पुनाँ उठ खड़ी हुई। उसकी आँखों में से आँसू टपक रहे थे। 'रैबारी! तुममें तो बत्तीसों लक्षण हैं, पर मैं तो पापिन हूँ।'

गाय तनिक हिलती-सी दिखाई दी।

'हैं ? गाय हिली क्या ?'

थोड़ी खड़बड़ाहट सुनकर गोवा ने मुँह घुमाया। चारे के लिए गाय मुँह मारती-सी दिखाई दी। परम सन्तोष से रैबारी बोला, 'पुनाँ ! गाय में मानों जी लौट रहा है।'

'कैसे नहीं जीवे ? हे दीनानाथ ! मुझ पापिनी के पाप से मेरे रैबारी की रतन-सरीखी गाय मत लो। माँ-बाप ! गाय के बदले मुझे ही उ—ठा—लो !'.....

'हँ...हँ...हँ...' करते रैबारी ने पुनाँ का हाथ पकड़ लिया। आँसुओं से शुद्ध बने हुए हृदय से दोनों एक दूसरे का हाथ पकड़ कर आँगन की ओर चले।*

---

* श्री० धूमकेतु की एक गुजराती कहानी